ISBN 81-7060-082-0

Library IIAS, Shimla
H 294.562 9 Au 68 H
00099619

Rs. 16.00

श्रीअरविंद

मनुष्य का मन

H
294.562 9 Au 68
M

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

H
294.5629
Au 68 M

श्रीअरविंद

मनुष्य का मन

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

CATALOGUED

प्रथम संस्करण : मार्च १९८८
द्वितीय संस्करण : १९९४

Library IIAS, Shimla
H 294.562 9 Au 68 M
00099619

H
294.5629
Au 68 M

मूल्य : रु. १६.००

Indian Institute of Advanced Study
ACC NO. 99619
DATE 4-12-2000
SHIMLA

ISBN 81-7060-082-0

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९९४
प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी
मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

श्रीअरविंद सेंटपाल स्कूल, लन्दन में (१८८८)

अध्यापक श्रीअरविंद, बड़ौदा (१९०६)

मनुष्य का मन

(एक समय था जब श्रीअरविंद शाम के समय अपने शिष्यों के साथ बैठकर बातचीत किया करते थे। १९२३ में जब श्री अंबालाल पुराणी आश्रम में आये तो उन्हें भी इन बैठकों में उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे कर्मठ आदमी थे, वार्तालाप को अपने लिये लिखने लगे और बाद में माताजी की स्वीकृति के साथ यही वार्तालाप 'ईवनिंग टॉक्स' के नाम से छपा। श्रीअरविंद को इसे देखने का समय नहीं मिला था इसलिये इसकी जिम्मेदारी लेखक की ही है। इसके कई खंड अलग-अलग पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।—सं०)

१०-७-१९२३

शिष्य—जब मनुष्य अपना शरीर छोड़ता है तो क्या उसकी अंतरात्मा तुरंत नया शरीर धारण कर लेती है ?

श्रीअरविंद—यह इसपर निर्भर है कि शरीर और अंतरात्मा से तुम्हारा क्या मतलब है।

शिष्य—यह कहा जाता है कि अपने विकास को पूरा करने के लिये अंतरात्मा को एक और भौतिक शरीर अपनाना पड़ता है।

श्रीअरविंद—अंतरात्मा के 'विकास' से तुम्हारा क्या मतलब है ? अगर अंतरात्मा से तुम्हारा मतलब है तात्त्विक आत्मा तो उसे विकास की जरूरत नहीं।

शिष्य—मृत और जीवित के बीच संबंध का क्या नियम है ?

श्रीअरविंद—तुम्हारे प्रश्न का यह मतलब मालूम होता है कि भौतिक अभिव्यक्ति ही सारी अभिव्यक्ति है। शरीर जीव की अभिव्यक्ति में एक परिस्थिति मात्र है। हम जब जगत् या स्तर कहते हैं तो उसका मतलब होता है चेतना की एक स्थिति। तब फिर "जाने" का क्या अर्थ होगा। जीव को किसी देश की यात्रा नहीं करनी होती है। वह बस चेतना की एक और स्थिति में चला जाता है।

शिष्य—जीव मृत्यु के बाद कहां जाता है ?

श्रीअरविंद—चले जाने से तुम्हारा मतलब क्या है ? जैसा कि मैंने कहा, वह चेतना के एक और स्तर में चला जाता है।

शिष्य—हमारे देश में यह मान्यता है कि मनुष्य की मृत्यु के बाद जीव अमुक स्थिति में रहता है लेकिन चूंकि वहां पर वह अपने विकास को पूरा नहीं कर पाता इसलिये उसे मानव जीवन में लौटना पड़ता है। प्रश्न यह है कि यह कैसे होता है ?

श्रीअरविंद—जैसा कि मैंने कहा, तात्त्विक जीव में कोई वृद्धि या विकास नहीं होता।

शिष्य—छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि मृतात्मा वर्षा के रूप में वापिस आती है और वनस्पति-जीवन में प्रवेश करती है, उसके बाद वह नारी की कोख से जन्म लेती है।

श्रीअरविंद—क्या तुम्हारा मतलब है कि जब-जब वर्षा होती है तब इतने सारे जीव ऊपर से गिरते हैं ? (हंसी)

शिष्य—शायद यह कोई रूपक हो।

दूसरा शिष्य—ऐसा लगता है कि आत्माएं दो कारणों से मानव जन्म लेती हैं। पूर्ण आत्माएं अवतार के साथ लीला में भाग लेने के लिये आती हैं।

श्रीअरविंद—यह सामान्य जन्म नहीं है। लेकिन प्रश्न यह हो सकता है कि जन्म होता ही क्यों है। यह तो यह पूछने के जैसा हुआ कि दुनिया क्यों बनायी गयी ? या तुम यह पूछ सकते हो कि यद्यपि हम भगवान् हैं फिर भी हम और तुम यहां क्यों हैं ? हम केवल यही कह सकते हैं कि जीव जीवन में भागवत पूर्णता प्रकट करने के लिये जन्म लेता है। बस इतना ही कह सकते हैं हम।

शिष्य—मैं यूं कह सकता हूं कि प्रश्न का एक हिस्सा जीवन के यंत्र-विन्यास के बारे में था।

श्रीअरविंद—दो चीजें हैं, शरीर और जीव। शरीर एक सामान्य रचना है और शायद तुम जानते हो कि विज्ञान जड़-पदार्थ की संरचना के बारे में

क्या कहता है। यह सब परमाणुओं का खेल है और उन्हें विद्युदणु में विघटित किया जा सकता है और विद्युदणु भौतिक जगत् में कुछ शक्तियों का रूपायण हैं। फिर आता है प्राणिक शरीर और फिर आता है मनोमय शरीर। ये प्राण और मन की रचनाएं हैं। इसी तरह से चैत्य सत्ता की भी रचना होती है, मैं सत्ता के अन्य छोटे-मोटे अंशों को छोड़े दे रहा हूं। यह एक मोटा-मोटा खाका है, अगर तुम विस्तार में जाना चाहो तो केवल भौतिक के ही पांच भाग हैं, इसी तरह औरों के भी हैं। इसके बाद तुम आते हो अंतरात्मा पर। साधारणतः अंतरात्मा को जीव नहीं माना जाता। अंतरात्मा वह तात्त्विक व्यक्तित्व नहीं है जो हमेशा भगवान् के साथ एक रहता है और हमेशा भगवान् की उपस्थिति में रहता है। इसी तरह अंतरात्मा का मतलब आत्मा भी नहीं है क्योंकि आत्मा का विकास नहीं होता। साधारणतः अंतरात्मा का अर्थ होता है चैत्य और मनोमय व्यक्तित्व जो शरीर और प्राणमय कोष के विलय के बाद भी बना रहता है।

हां, तो जब आदमी मरता है तो उसका भौतिक शरीर विलीन हो जाता है। कुछ समय के बाद प्राणमय शरीर भी विलीन हो जाता है और फिर चैत्य और मनोमय शरीर भी विलीन हो जाते हैं। एक कीड़े का उदाहरण लो। कीड़े में केवल भौतिक चेतना होती है और कुछ नहीं। जगत् में अन्य रचनाएं इतनी नीची हैं कि उनके बारे में विचार करने की जरूरत नहीं। कीड़ा कुछ अनुभव भौतिक स्तर पर पा लेता है। मेरी अपनी दृष्टि यह है कि कीड़ा किसी अवलंब देनेवाली आत्मा की सहायता के बिना एक जगत् से दूसरे जगत् की ओर विकसित नहीं होता चला जाता। ऐसी बात नहीं होती कि वह एक जगत् से दूसरे जगत् तक चढ़ता जाता है और इसका अंत होता है अंतरात्मा में। अंतरात्मा या जीव पहले भी होता है। भौतिक स्तर पर रहनेवाला सूक्ष्म देही जीव के पास लौट कर आता है जो सारे समय भौतिक चेतना में कीड़े को सहारा देता रहता है। जब वह तैयार हो जाये तो उसे प्राणमय स्तर पर ले लिया जाता है जहां वह अनुभव इकट्ठे करता रहता है जबतक कि मनुष्य के मनोमय लोक तक न पहुंच जाये। और इसके बाद अतिमानसिक लोक भी हैं।

हम अपने योग में अतिमानसिक लोक को नीचे उतार लाते हैं ताकि अंतरात्मा पूर्ण अनुभव के साथ उच्चतर लोक को लौट सके। प्रश्न यह है कि हम कहांतक अतिमानसिकभावापन्न हो सकते हैं। अगर हम मनोमय और प्राणमय सत्ता को अतिमानसिकभावापन्न कर सकें तो हम उस अनुभव की स्मृति के साथ लौट सकते हैं और अन्य अभिव्यक्ति में तैयार रचना को ला सकते हैं। अगर हम चाहें तो हम मृत्यु के बाद भी प्राणमय शरीर को रख सकते और प्राणमय लोक पर प्रभाव डाल सकते हैं।

अब मान लो हम शरीर को अतिमानसिकभावापन्न करते हैं। तब हम भौतिक अनुभव की पूरी-पूरी भौतिक, प्राणिक और मानसिक शक्ति को लेकर लौट सकते और भगवान् को अभिव्यक्त कर सकते हैं। अवतारों और विभूतियों के बारे में यही होता है—विगत प्राणमय और मनोमय अनुभवों की पूरी स्मृति रहती है और अवतार तो भौतिक के अनुभव की स्मृति भी रखते हैं। अगर हम शरीर को अतिमानसिकभावापन्न कर सकें तो शरीर को रखा या त्यागा जा सकता है—इच्छा-मृत्यु। और शरीर त्यागने पर भी—जब अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को फिर से अपनाया जाता है तो जीव को वैश्व प्रकृति की किन्हीं भी रचनाओं में से सामान्य जीवों की तरह भौतिक, प्राणिक तथा मानसिक का संग्रह नहीं करना होता। अगर ये अतिमानसिकभावापन्न हो जायें तो सारी सत्ता पूरी तरह से तैयार हो जाती है; उसे केवल तैयार रचना को लेकर भगवान् को प्रकट करना होता है।

शिष्य—लेकिन भौतिक या प्राणिक शरीर के लिये कौन उपादान प्रदान करता है?

श्रीअरविंद—"कौन प्रदान करता है" से तुम्हारा मतलब क्या है? वह तो प्रकृति में होता है जैसे बिजली, गैस वगैरह हैं।

शिष्य—प्रकृति क्या है?

श्रीअरविंद—वैश्व भगवान् ने विश्व को फैला रखा है और एक वैश्व प्रकृति है जो हमारे लिये समस्त उपादान जुटाती है। तत्त्वतः प्रकृति में हर चीज वैश्व आत्मा की किसी-न-किसी चीज के साथ मेल खाती है, उदाहरण के लिये प्राण दिव्य तपस् के अनुरूप है।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया के बारे में नियम और ब्यौरे बहुत अधिक जटिल हैं, उन्हें ठीक-ठीक समझाना बहुत कठिन है। यह बड़ा पेचीदा प्रश्न है।

१-६-१९२४

वर्षा ऋतु के कारण बिजली के बल्ब के चारों ओर बहुत-से पतिंगे उड़ते फिर रहे थे। वहीं एक मकड़ी उन्हें पकड़ने के लिये जाल बनाने में व्यस्त थी। श्रीअरविंद इसे देखने में लगे थे।

मकड़ी बहुत तेजी में थी। बार-बार इधर-उधर से आते हुए पतिंगों के कारण जाल टूट जाता था, किसी-न-किसी तरह से मकड़ी ने पांच मिनट में एक जाल-सा तैयार कर ही लिया।

श्रीअरविंद—आज इसकी अच्छी दावत होगी! वह फिर भी जाल को मजबूत बनाने में लगी है। वह एक पतिंगे को जाल के एक कोने में बांधकर फिर से जाल बनाने के काम में लग जाती है। उसे गणित का अच्छा ज्ञान है!

श्रीअरविंद ने 'गेस्ट हाउस' की बरसों पुरानी एक घटना सुनायी। एक मकड़ी अपने जाल को संतुलित करना चाहती थी। उसने एक ओर रेत का दाना रखा तो देखा कि जाल भारी हो गया है। उसने झट उसे हटाकर एक तिनका रख दिया और जाल का संतुलन ठीक हो गया। तो देखो, ये मकड़ियां बड़ी कुशल होती हैं। वे जानती हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये और वे अनुभव और परीक्षण से सीखती हैं।

४-८-१९२४

सवेरे साधना के बारे में बातचीत।

शिष्य—प्राणिक मन और मानसिक इच्छा में क्या फर्क होता है?

श्रीअरविंद—प्राणिक मन पहले आवेश है और पीछे विचार। तुम कह सकते हो कि वह पहले शक्ति है और पीछे विचार। उदाहरण के लिये कामना, अगर कामना के तत्त्व को निकाल दिया जाये तो, यह आवेग या शक्ति है जो बाहर जाती है या अपने-आपको चरितार्थ करने की कोशिश में लगी रहती है।

जब कि मानसिक इच्छा विचार के साथ जुड़ी होती है। वह पहली विचार-शक्ति है। हर विचार की अपनी इच्छा होती है। अतिमानस में भी एक भेद होता है। कभी एक शक्ति होती है जो अपने-आपको चरितार्थ करना चाहती है, कभी-कभी ज्ञान होता है जो अपने-आपको प्रभावकारी बनाने की कोशिश करता है, यद्यपि वह पहले ज्ञान है और पीछे शक्ति। उच्चतम अतिमानस में दोनों एक होते हैं: सत्य और शक्ति, ज्ञान और इच्छा—दोनों साथ-साथ और प्रभावशाली होते हैं। साधक को चाहिये कि अपनी अचंचलता और समता को एकदम सुरक्षित रखे ताकि चाहे जो कुछ हुआ करे, भीतरी अनासक्ति और समता पर आंच न आये।

३०-८-१९२५

श्रीअरविंद—कोई मेजर हिल है जिसे सचमुच किसी पागलखाने में होना चाहिये। उसने महात्मा गांधी को 'सोसायटी ऑफ साइको एनालिस्ट्स' में निमंत्रण दिया और यह समझाया है कि हिंदू-मुस्लिम समस्या केवल ग्रंथि की समस्या है। यह गौ-ग्रंथि की समस्या है (हंसी) मेजर कहता है, "अगर तुम इस समस्या को हल करना चाहते हो तो गाय का प्रतीक बदल डालो फिर कोई समस्या न रहेगी।"

शिष्य—मैंने एक जैविकी विश्लेषक का लेख पढ़ा है जिसमें वह कमाल पाशा और उसकी स्त्री के तलाक की बात समझा रहा है। उसका कहना है कि श्रीमती कमाल को अपने मां-बाप से बहुत प्रेम था, अपने पति से प्रेम न था। दूसरे यह कि उसमें पुरुषोचित ग्रंथि थी जिसके कारण वह नारी मताधिकार के आंदोलन में भरती हो गयी। लेखक ने यह भी समझाया है कि नैपोलियन ने जोसेफीन को इसलिये तलाक दिया था क्योंकि उसे अपनी मां से प्रेम था और रानी एलिजाबेथ (प्रथम) में पुरुषोचित्त ग्रंथि थी लेकिन उसके साथ मिलने-जुलनेवालों में काफी मजबूत नारी-ग्रंथि न थी जिसके कारण वे उसे अपने साथ न रख सके। उसका कहना है कि गांधीजी में भी कोई ग्रंथि है! इस ग्रंथि के मामले को समझना असंभव बात है।

श्रीअरविंद—मैं तो बस इतना ही जानता हूं कि जब तुम अपनी प्रकृति

में किसी चीज को दबाते हो तो वह नीचे अवचेतना में चली जाती है। लेकिन यह सर्व-सामान्य नियम बनाना कि तुम जो कुछ करते हो इन ग्रंथियों के कारण करते हो, एक नया विचार है।

शिष्य—क्या यह ठीक है ?

श्रीअरविंद—नहीं, प्राचीन यूरोपीय मनोविज्ञान में तो कुछ भी न था, आधुनिक में कुछ तो है पर है मिथ्या।

शिष्य—क्या वह बिल्कुल मिथ्या है ? क्या वह प्राचीन की तुलना में आगे बढ़ा हुआ नहीं है ?

श्रीअरविंद—यह इस अर्थ में प्रगति है कि जैसा कि मैंने कहा, प्राचीन में कुछ भी न था पर नवीन में कुछ तो है पर है मिथ्या।

इन विज्ञानों के बारे में यूरोपीय लोगों के निश्चित विचार होते हैं। वे कुछ असामान्य घटनाएं देखते हैं, उनका अध्ययन करते हैं, सामान्य नियम खोजते हैं और फिर उसे सब जगह लागू करने की कोशिश करते हैं। नैपोलियन, एलिजाबेथ और बेगम समरू ने एक खास तरह से व्यवहार किया क्योंकि उनमें अमुक ग्रंथि थी। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य का चरित्र होता है और उसका चरित्र ही उसके क्रिया-कलाप के बारे में निश्चय करता है। यह बात हम लोग दस हजार वर्ष पहले जानते थे। इसमें नया कुछ भी नहीं है।

मुश्किल यह है कि वे मनोविज्ञान में भी उसी तरह काम करना चाहते हैं जैसे भौतिक विज्ञान में करते हैं, परंतु मनोविज्ञान इतना सीधा-सादा नहीं है। तुम इसके नियमों को उसी तरह सर्व-सामान्य नहीं बना सकते जैसे तुम भौतिक विज्ञान के साथ कर सकते हो। यह बहुत सूक्ष्म है और इसमें बहुत-सी बातें देखनी होती हैं।

अगर तुम कहो कि हर चीज का, जो हम करते हैं, हमारी आंतरिक सत्ता पर प्रभाव पड़ता है और इसी तरह जो कुछ हमारे भीतर है, अवचेतना में है वह कुछ हदतक हमारी क्रियाओं पर असर डालता है—तो यह बात ठीक है। लेकिन इससे ज्यादा नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिये स्वप्नों को ले लो। यह बात बिल्कुल ठीक है कि स्वप्न नींद के समय

अनियमित तथा मनमाने तरीके से अवचेतना से उठनेवाली किसी चीज के कारण आते हैं, लेकिन यह बात सभी स्वप्नों के लिये नहीं कही जा सकती। स्वप्नों का क्षेत्र बहुत बड़ा है। अन्य प्रकार के स्वप्न भी होते हैं जो अवचेतना से नहीं आते। मनुष्य का मनोविज्ञान बड़ा कठिन है।

शिष्य—क्या आपका मतलब यह है कि नया मनोविज्ञान बिल्कुल गलत है ?

श्रीअरविंद—मैं कहता हूं कि वह मिथ्या है और जहां वह भौतिक विज्ञानों की रेखाओं पर चलने की कोशिश करता है, वह व्यर्थ है। क्योंकि इन दोनों में कोई मेल नहीं है।

एक शिष्य—फ्रायड ने इस जटिल सिद्धांत का आरंभ किया था।

दूसरा शिष्य—और उसने अपने सिद्धांत से बहुत-से लोगों को नीरोग कर दिया था।

श्रीअरविंद—सिद्धांत किसी को नीरोग नहीं कर सकता। क्या तुम अब भी यह विश्वास करते हो कि सिद्धांत लोगों को नीरोग करते हैं ? लोगों का उपचार या परिणाम-प्राप्ति किसी भी सिद्धांत पर निर्भर नहीं होती। सिद्धांत ठीक हो सकता है या गलत फिर भी तुम उससे परिणाम पा सकते हो, सिद्धांत तुम्हें ऐसी स्थिति में रख देता है जब तुम्हारे पीछे से कोई चीज काम कर सकती है, बर्गसां का यही कहना है। सिद्धांत तुम्हें आश्वासन दिला देता है और आवश्यक आंतरिक स्थिति पैदा करता है, बस इतना ही। वह ठीक भी हो सकता है और गलत भी, हो सकता है कि जैसे आजकल कूए लोगों को नीरोग बना देता है उसी तरह फ्रायड भी किया करता हो। लेकिन क्या वह उन्हें अपने सिद्धांत द्वारा नीरोग करता है ? बिल्कुल नहीं, उसके अंदर कोई शक्ति होती है जो लोगों को रोग-मुक्त कर देती है।

तुम मानस-विश्लेषण के परिणामों का उपयोग करके विघ्न-बाधाओं और मानव प्रकृति से जटिलताओं को दूर कर सकते हो और तुम देखोगे कि वे सफल नहीं हो पाते।

शिष्य—यह सच है, वह योग की तरह गहराई में नहीं जाता।

श्रीअरविंद—वह अपने कार्य को गलत आधार से शुरू करता है।

१८-१०-१९२५

आज पशुओं के मन के बारे में बात चली :

श्रीअरविंद—चूहों के बारे में समाचार के साथ ही बंदरों के नदी पार करने की बात भी तो है। यह केवल सहजवृत्ति नहीं है। पेड़ की ऊंचाई का हिसाब, शृंखला का निर्माण और नदी की चौड़ाई का अंदाज, इनके लिये मन की जरूरत है।

अभी उस दिन मैंने एक कुत्ते के बारे में पढ़ा था जिसने एक घोड़े से दोस्ती कर ली थी। उसका साईस घोड़े के खाने से सामान चुरा लेता था। या तो घोड़े ने कुत्ते से शिकायत की या कुत्ते को अपने-आप पता लग गया, पर कुत्ते को चोरी का पता चल गया। एक दिन जब चोर सचमुच चोरी कर रहा था तो वह जाकर मालिक को ले आया। ऐसा लगता है कि पशु (१) स्मृति, (२) संसर्ग, (३) खोज, (४) उद्देश्य के अनुकूल साधन खोजना—इन चार चीजों के आधार पर काम करते हैं।

मेरा ख्याल है कि पशु प्राणिक मन से सोचता है जब कि मनुष्य तर्क-बुद्धि से सोचता है।

१९-१०-१९२५

बिल्लियों के बारे में बात चली :

श्रीअरविंद—उनमें बहुत प्राण-शक्ति होती है। जब वे उत्तेजित होती हैं तो सारे वातावरण को क्षुब्ध कर देती हैं। जब वे उस अवस्था में होती हैं तो चारों ओर प्राणिक-शक्ति फेंकती रहती हैं। उनमें अद्‌भुत प्राण-शक्ति होती है।

अप्रैल या मई १९२६

बात इस विषय में चली कि 'क' को बिल्ली को दी जानेवाली मछली और 'ख' को मांसाहार को देखकर सिकुड़न होती है।

श्रीअरविंद—स्वयं मुझे इस तरह की स्नायविक झिझक हुआ करती थी। एक बार मैं विपिन राय के साथ दक्षिणेश्वर गया था। वहां बलि चल

रही थी। मैं तो उसे देख सका पर विपिन पाल इससे बहुत विचलित हो गये। जेल में मैं इस भाव से पूरी तरह मुक्त हो गया। दया और स्नायविक झिझक प्राणिक सत्ता की कमजोरियां हैं।

शिष्य—पातंजलि में अहिंसा का क्या अर्थ है ?

श्रीअरविंद—मुझे नहीं मालूम। इसके लिये तुम्हें पातंजलि से पूछना चाहिये। *(हंसी)*

शिष्य—प्रश्न यह है कि खटमलों के साथ क्या किया जाये ? 'क' अनगिनत खटमलों की परवाह किये बिना रह सकता है।

दूसरा शिष्य—हां, लेकिन उसकी क्षमता खटमलों के आकार पर निर्भर है। अगर वे बड़े-बड़े हों तो वह परवाह करता है। (हंसी)

और एक शिष्य—'ग' खटमलों का जल्लाद है।

श्रीअरविंद—जब कोई चीज करनी हो तो वह कर्तव्य कर्म होती है, जैसा कि तुमने गीता में देखा है ! उस समय अगर मैं दया से भरा होऊं तो यह कमजोरी होगी। अगर देश से अंग्रेजों को निकाल बाहर करने का प्रश्न है तो उस समय तुम दया की बात नहीं सोच सकते ! तुम यह नहीं सोच सकते कि कितने लोगों की नौकरी छूट जायेगी या अंग्रेजों के व्यापार को कितना नुकसान होगा।

सकुचाना या झिझकना स्नायविक प्रकृति की चीज है, दया हृदय की। वह एक भावना है, उसका संबंध चैत्य के साथ ज्यादा होता है। जैन लोगों की दया ज्यादा बौद्धिक होती है। उन्हें क्रूरता के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं होती यदि वह वैसे रूप न धारण करे जिनसे घृणा करना उन्हें परिपाटी और संस्कार ने सिखाया है।

महात्मा गांधी की अहिंसा उन्हें स्वयं अपने-आपको तथा औरों को कष्ट देने से नहीं रोकती, वह यह नहीं देख पाते कि कितने दुःखों का कारण वे स्वयं हैं।

शिष्य—हमें कैसे पता लगे कि यह सकुचाना है या दया करना ?

श्रीअरविंद—तुम उसे अपने अंदर अनुभव कर सकते हो, तुम झिझक का अनुभव करते हो। संवेदन और अनुभव अलग-अलग चीजें हैं।

सकुचाना मुख्य रूप से स्नायविक है और दया है भावना।

२९-५-१९२६

शिष्य—'क' पांडिचेरी छोड़ते हुए बहुत दुःख प्रकट कर रहा था।

श्रीअरविंद—क्या वह सच्चा दुःख था ?

शिष्य—कम-से-कम उस समय मुझे ऐसा लगा। लेकिन ऐसा लगता है कि उसमें दोहरा व्यक्तित्व है।

श्रीअरविंद—लेकिन यह ऐसा दोहरा व्यक्तित्व नहीं है जिसमें एक हिस्सा दूसरे के बारे में अजाना होता है क्योंकि स्पष्ट है कि उसे याद था कि उसने क्या लिखा था।

शिष्य—शुरू में ऐसा लगता था कि वह कोई और ही व्यक्ति है, फिर वह बदल गया।

श्रीअरविंद—नहीं, यह एक ऐसी प्राणिक सत्ता का मामला है जो आकर उसपर कब्जा कर लेती है। वह सत्ता मेरे या माताजी के रूप में आती है और उसे मेरे लिखे हुए पत्रों के अजीबोगरीब अर्थ समझाती है।

शिष्य—इस तरह के कब्जे का क्या परिणाम होगा ?

श्रीअरविंद—दो परिणाम संभव हैं—१. या तो वह पागल हो जाये या २. वह किसी शक्ति को प्रकट करे और महान् अवतार होने का दावा करे (कुछ ठहर कर) इस योग में पतन आसान है, लेकिन फिर से चढ़ना बहुत कठिन है।

शिष्य—क्या उसका पतन भौतिक सत्ता की किसी कमजोरी के कारण था ?

श्रीअरविंद—उसने असहयोग आंदोलन के दिनों में तपस्या के द्वारा अपने शरीर को कमजोर बना डाला था लेकिन उसकी कमजोरी औरों की कमजोरी से बहुत अधिक न थी। उसके मुख्य दोष मन और प्राण में थे। उसकी मानसिक सत्ता बहुत ही संकीर्ण है—हम कह सकते हैं कि उसमें मन है ही नहीं, केवल धर्म और आध्यात्मिकता के बारे में रूढ़िग्रस्त विचार हैं। लेकिन उसकी प्राणमय सत्ता में अद्भुत अभीप्सा और तीव्रता थी।

उसने औरों से बहुत अधिक प्रगति की लेकिन उसमें बहुत अधिक दर्प भी था। उसने मान लिया कि वह बहुत अधिक विशेष व्यक्ति है। उसने अहं-भाव के साथ अतिमानव होने की ठानी। इसके बाद वह भावमय भक्ति की ओर मुड़ा और अतिमानस को एक वर्ष के अंदर खींच लाने के लिये वह माताजी और श्रीअरविंद को बुलाता और फिर रोता ! स्थिति यहांतक पहुंच गयी कि भौतिक वास्तविकता पर उसका जरा भी अधिकार न रहा और वह यह सोचता था कि यह सब ऊटपटांग चीजें उससे मैं ही करवा रहा हूं जब कि सच्ची बात यह थी कि मैं नहीं चाहता था कि वह यह सब करे ! उसे अपने शरीर पर अधिकार न था और कई बार जब आवेश आता था तो वह घुटनों के बल गिर-गिर पड़ता था। उसे जादुई और चमत्कारिक चीजों के लिये बहुत आकर्षण था। वह सोचता था कि योगी को खाना और सोना न चाहिये।

शिष्य—क्या यह संभव है कि वैश्व प्राणिक स्तर पर इतना अधिकार पा लिया जाये कि इन शक्तियों के लिये सत्य का, आपका या माताजी का रूप बनाकर भरमाना असंभव हो जाये ?

श्रीअरविंद—यह चेतना की बात है पार्थिव स्तर की नहीं जहां तुम किसी को कुछ करने से रोक सकते हो। व्यक्ति के सहयोग के बिना कुछ भी संभव नहीं है। मुश्किल तो यह है कि वह प्राणलोक की उस सत्ता को रखना चाहता है और अगर उसे भगा भी दिया जाये तो वह उसे वापिस बुला लेता है।

शिष्य—इस सत्ता का उसपर क्या प्रभाव होता है ?

श्रीअरविंद—जब हमने दबाव हटा लिया तो वह साधारण आदमी की तरह अनुभव करने लगा। उसे शरीर के दर्द का अनुभव होने लगा। कभी-कभी जब मनुष्य प्रतिकार करता है तो दौरे आने लगते हैं, हिस्टीरिया हो जाता है।

शिष्य—लेकिन यह प्राणिक सत्ता उसे बार-बार पांडिचेरी में लाकर क्यों पटकती है ?

श्रीअरविंद—अनेक सत्ताएं हैं और उनकी बहुत-सी प्रवृत्तियां तथा हेतु

होते हैं। वे विविध कारणों से इस स्थान की ओर आकर्षित होती हैं पर वे आज्ञापालन करना नहीं चाहतीं।

शिष्य—मनुष्य को बस में कर लेने में इन सत्ताओं का उद्देश्य क्या होता है ?

श्रीअरविंद—पहला यह कि आदमी को बस में करके वे भौतिक जगत् पर प्रभाव डाल सकती हैं। दूसरे, विनोद के लिये, यह देखने के लिये कि इससे क्या होता है। तीसरे, भगवान् का अभिनय करके अपनी पूजा करवाना, चौथे प्राणिक शक्ति को अभिव्यक्त करना। इस श्रेणी में वे सब आते हैं जो चमत्कारी इलाज करते हैं, जिनमें उपचार की खास शक्तियां होती हैं, पांचवें, किसी कामना या आवेश की पूर्ति के लिये जैसे हत्या, काम-वासना आदि।

इस दृष्टि से तुम देखोगे कि मृत्यु-दंड बेकार है। जिस आदमी ने हत्या की वह संभवतः किसी सत्ता के आवेग के वश में था। जब हत्यारे को फांसी हो जाती है तो वह सत्ता किसी और पर कब्जा कर लेती है। कई हत्यारों ने यह स्वीकारा है कि उनमें हत्या का पहला आवेग तब आया जब उन्होंने किसी को फांसी पर झूलते देखा।

कुछ प्राणिक सत्ताएं यहां पर अपना खेल करना चाहती हैं।

शिष्य—वे ऐसा क्यों करती हैं ?

श्रीअरविंद—उन्हें सहारा मिलता है। लेकिन ये कोई मजबूत सत्ताएं नहीं होतीं। सचमुच मजबूत सत्ताएं तो वे हैं जो जगत्-आंदोलनों के पीछे होती हैं जैसे थियोसोफी। उनमें केवल प्राणिक बल ही नहीं मनःशक्ति भी होती है।

शिष्य—विकास में उनकी क्या भूमिका है ?

श्रीअरविंद—वे केवल शक्ति-प्रदर्शन करती हैं। वे सामान्यतः भौतिक शरीर धारण नहीं करतीं।

शिष्य—क्या उनमें प्रगति का कोई विचार होता है ?

श्रीअरविंद—प्रगति से उनका मतलब होता है केवल शक्ति की वृद्धि, लेकिन उनको बदला जा सकता है।

तेओं, जिसने अलजीरिया में माताजी को गुह्य विद्या सिखायी थी,

मानता था कि जो शक्तियां या सत्ताएं भौतिक के साथ संपर्क में आने की कोशिश करती हैं, परिवर्तन उनकी नियति में होता है।

शिष्य—क्या वे अपनी प्राणिक प्रकृति बदलती हैं ?

श्रीअरविंद—वे रहती तो हैं प्राणिक सत्ताएं ही पर अपने लिये शक्ति को लक्ष्य बनाने की जगह और अहंकार के साथ कुछ अभिव्यक्त करने की जगह वे किसी उच्चतर चीज को प्रकट करने के लिये राजी हो जाती हैं। इसके लिये उन्हें शरीर धारण करने की जरूरत नहीं। वे अपने ही लोक में रहते हुए उच्चतर प्रभाव के रूप में वहां काम कर सकती हैं।

शिष्य—क्या जिस पर भूत-बाधा हो वह अपनी खोयी हुई भूमि को फिर से पाने का प्रयास कर सकता है ?

श्रीअरविंद—कुछ समय के बाद, भूत बाधा के समय अंतरात्मा नहीं होती, उसे पीछे, पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है। साधारणतः मनुष्य में अंतरात्मा सामने नहीं होती। आशा की जाती है कि योग द्वारा वह सामने आ जायेगी। लेकिन कुछ कमजोरियों का लाभ उठाकर, किसी प्राणिक या शारीरिक दोष के कारण उसे पीछे धकेल दिया जा सकता है, जबतक कि केंद्रीय सत्ता नीचे आकर अपने उपकरणों पर अधिकार न कर ले।

शिष्य—क्या ये शक्तियां तब भी अधिकार जमा सकती हैं जब मनुष्य का मन अच्छा हो यानी उसके प्राणिक आवेगों से ऊंचा हो ?

श्रीअरविंद—उन सत्ताओं के आगे मनुष्य का मानसिक ज्ञान क्या है ? आदमी जानता ही क्या है ? लगभग कुछ नहीं। वे कार्यकारिणी शक्तियों की जटिलताओं के बारे में जानती हैं जिनके बारे में मनुष्य कुछ नहीं जानता। मनुष्य अगर ठीक रेखाओं पर चले तो उसके प्रारब्ध में बहुत कुछ है पर जैसा कि वह है, वह भौतिक चेतना में बंद है, और यह बहुत ही घटिया स्तर है। उसकी तर्क-बुद्धि को भी ज्ञान के लिये सामग्री की जरूरत होती है, तर्क-वितर्क और दलीलें उसके लिये सब कुछ प्रमाणित कर सकती हैं। एक ही तर्क द्वारा दो विपरीत निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और तुम्हारी अभिरुचि यह तय करती है कि तुम कौन से को चुनते हो। और तर्क की सामग्री के लिये तुम उन बातों पर निर्भर रहते हो जो तुमने अपनी

इंद्रियों से देखी या सुनी हैं। प्राणिक सत्ताएं इतनी मूर्ख या इतनी संकुचित नहीं होतीं।

२२-६-१९२६

शिष्य—आंतरिक मन, प्राण और शरीर की सत्ताओं का चैत्य सत्ता से क्या संबंध होता है ?

श्रीअरविंद—मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताएं चैत्य सत्ता की अभिव्यक्ति के उपकरण हैं। तुम यूं कह सकते हो कि वे यहां पार्थिव क्रम-विकास में अभिव्यक्ति के लिये चैत्य सत्ता के रूपायण हैं। चैत्य सत्ता ही यहां मन, प्राण और शरीर को अवलंब देती है। वह उनके पीछे खड़ी रहती है। चैत्य सत्ता को ही यूरोपीय अंतरात्मा या जीव कहते हैं। वही आदमी में 'सच्चा व्यक्ति' है। निम्नतर प्रकृति में वह अंतर्तम सत्ता है। निम्नतर प्रकृति में वह भगवान् की प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। साधारणतः यह माना जाता है कि वह हृदय के पीछे रहती है। वह भावमय क्रिया-कलाप के पीछे होती है जो उसकी सतही अभिव्यक्ति है। सामान्यतः भावमय क्रिया-कलाप स्वभाव से चैत्य नहीं होते। सच्चा चैत्य भाव बहुत गहरा होता है और वह शुद्ध रूप से आध्यात्मिक भाव होता है। चैत्य सत्ता सीधी उच्चतर सत्य के प्रति खुलती है और वही यहां पर उसको ग्रहण कर सकती है।

शिष्य—क्या चैत्य सत्ता ही मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता पर शासन करती है ?

श्रीअरविंद—हां, लेकिन साधारण मनुष्य में चैत्य सत्ता उसकी अधिकतर क्रियाओं पर शासन नहीं करती। वे बहुधा बाहरी प्रभावों से अनुशासित होती हैं।

शिष्य—आपने 'क' के बारे में बोलते हुए कहा था कि उसने आंतरिक मन और चैत्य के बीच का परदा फाड़ दिया। इससे आपका ठीक-ठीक क्या मतलब था ? क्या इस तरह का कोई परदा होता है ?

श्रीअरविंद—हां, इस तरह का परदा होता है और इसी कारण

अधिकतर मनुष्य अपनी आंतरिक सत्ता के बारे में सचेतन नहीं होते। 'क' के मामले में मैंने "चैत्य" शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया था। उसने मानसिक और प्राणिक लोकों के बीच का परदा फाड़ दिया था और अपने-आपको उनके पीछे के लोकों के प्रति खोल दिया और उसके बाद जो कुछ हुआ वह उसे सह न सका। वहां मैंने इस शब्द का प्रयोग 'अंतस्तल आत्मा' के अर्थ में किया था।

शिष्य—क्या चैत्य सत्ता की क्रिया मुख्यतः आंतरिक मानसिक और आंतरिक प्राण में ही होती है या वह अवचेतन् होती है ?

श्रीअरविंद—हर वह चीज जिसके बारे में मनुष्य साधारणतः सचेतन नहीं होता, उसके लिये अवचेतन होती है। इसका मतलब इतना ही है कि कोई चीज पीछे हो रही है जिसके बारे में सतही मनुष्य कुछ नहीं जानता, लेकिन वास्तव में कोई चीज अवचेतन नहीं है। एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि अतिचेतन भी अवचेतन है।

शिष्य—चैत्य सत्ता का अतिमानस से क्या संबंध होता है ?

श्रीअरविंद—चैत्य सत्ता अतिमानस नहीं है, उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि परदा फाड़कर हम किसी-न-किसी तरह अंतस्तलीय या चैत्य सत्ता में पहुंच सकते हैं लेकिन इस तरह अतिमानस में नहीं जा सकते। चैत्य सत्ता उच्चतर सत्य के प्रति खुलती है परंतु वह तत् नहीं है, वह सत्य को ग्रहण करती है। चैत्य सत्ता मन, प्राण और शरीर की सत्ता के "पीछे" होती है पर "ऊपर" नहीं।

शिष्य—चैत्य सत्ता और आध्यात्मिक सत्ता में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद—तुम आध्यात्मिक सत्ता के बारे में इसके सिवा कुछ नहीं कह सकते कि वह सच्चिदानंद की सत्ता है परंतु वह व्यष्टिगत नहीं होती। ये तीनों लोक मन के ऊपर हैं। मानसिक, प्राणिक और भौतिक तीनों निचले गोलार्द्ध में हैं। दोनों गोलार्द्धों के बीच है वह जिसे मैं अतिमानस कहता हूं।

तुम वास्तविक सच्चिदानन्द तक नहीं पहुंच सकते। अधिकतर जो लोग कहते हैं कि उन्होंने सच्चिदानन्द को पा लिया है उनकी तरह तुम भी उसका

अनुभव मन और प्राण में कर सकते हो लेकिन उसकी अनुभूति पा लेने पर भी तुम उसे यहां संगठित नहीं कर सकते, सच्चिदानन्द का संगठन केवल अतिमानस ही कर सकता है।

शिष्य—क्या चैत्य वह सत्ता है जो मृत्यु के बाद भी बनी रहती है ? कारण-शरीर किसे कहते हैं ?

श्रीअरविंद—पुनर्जन्म की अध्यक्षता चैत्य पुरुष नहीं, केंद्रीय सत्ता या जीव के हाथ में होती है जो आवश्यकता के अनुसार प्रकृति से सामग्री जुटा लेता है। साधारणतः कारण-शरीर का मतलब होता है अतिमानसिक शरीर।

शिष्य—प्रचलित परिभाषा में यद्यपि कारण-शरीर का मतलब विज्ञानमय ही होता है पर वे उसे विकास का नहीं, छुटकारा पाने का साधन मानते हैं। उनके अनुसार कारण-शरीर का उपयोग है प्रकृति में बचे हुए सारे बीजों को भस्म कर देना। उनकी मान्यता है कि जबतक कारण-शरीर में स्थित बीज को न जला दिया जाये तबतक मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रीअरविंद—यह बात सच है। यहां पर तुम जो कुछ देखते हो उस सबका बीज अतिमानस में है और अतिमानस तक पहुंचे बिना तुम सचमुच प्रकृति की अपूर्णता से छुटकारा नहीं पा सकते।

उदाहरण के लिये पुत्र के प्रेम को लो। साधारणतः वह ऊपर की किसी चीज का प्रतिनिधि होता है लेकिन वह जो रूप धारण करता है वह ऊपर के सत्य को एकदम गलत रूपक दे देता है। अब, अगर तुम इस भ्रांति को दूर करना चाहो तो तुम्हें उसे दबाना नहीं चाहिये क्योंकि इस तरह वह सचमुच जाता नहीं है, बल्कि तुम्हें उसे उच्चतर सत्य को अर्पण कर देना चाहिये और एक बार तुम उसके पीछे के सत्य को जान जाओ तो तुम उसके सामान्यतः प्रचलित मिथ्या रूप के आधीन नहीं रहते। हर चीज के साथ ऐसी ही बात है।

शिष्य—सामान्यतः लोगों ने सभी अपूर्णताओं के बीज को यहीं पाने की कोशिश की और फिर जगत् से भाग निकलने का प्रयास किया।

श्रीअरविंद—यह पुराना विचार था। इसकी नींव में यह विचार था कि

Indian Institute of Advanced Study
Acc. No. 99619

सत्य को, अतिमानस को यहां धरती पर स्थापित नहीं किया जा सकता। चूंकि यहां जो कुछ है सब अपूर्ण है, सत्य नहीं मिथ्या है, चूंकि मन ने सत्य को यहां प्रतिष्ठित करने की कोशिश की पर असफल हुआ, इसलिये उन्होंने सोचा कि "सत्य में जाने" का अर्थ है मन, प्राण इत्यादि को छोड़ देना। इसी विचार को बढ़ा-चढ़ा कर उन्होंने मान लिया कि जगत् केवल अपूर्ण ही नहीं, भ्रम है। उनके लिये जीवन में लौटने का अर्थ था मिथ्यात्व में लौटना, उपनिषद् के रूपक "सूर्य के द्वारा मोक्ष पाने" का यही अर्थ है। जबतक तुम सूर्य-रश्मियों में हो तबतक तो लौट सकते हो पर एक बार सूर्य में पहुंच जाओ तो लौटना संभव नहीं है। हम एक और ही धारणा को लेकर चल सकते हैं वह यह कि जीवन है तो मिथ्या और अपूर्ण लेकिन हम यहां सत्य और पूर्णता को अभिव्यक्त कर सकते हैं। यहां जीवन में सत्य मानव चेतना के वर्तमान रूपायण और संगठन में प्रकट नहीं हो सकता जिसका मुख्य उपकरण है मन। मन यहां पर सत्य को संगठित नहीं कर सकता लेकिन चेतना का एक उच्चतर रूपायण और संगठन यहां पर संभव है।

शिष्य—यहां संगठित करने की इच्छा को भी तो मायावादी माया ही बतायेगा।

श्रीअरविंद—इस तरह तो जगत् से छुटकारा पाने की इच्छा भी माया है !

शिष्य—तंत्र में कहा गया है कि हमें मोक्ष की इच्छा को भी त्याग देना चाहिये।

श्रीअरविंद—मोक्ष-प्राप्ति के लिये मोक्ष की इच्छा को त्यागने में बहुत सहायता नहीं मिलती।

शिष्य—यह उन लोगों के लिये ठीक है जो मोक्ष प्राप्त कर चुके, उनके लिये नहीं जो अभी मार्ग में ही हैं। *(हंसी)*

श्रीअरविंद—मायावाद का एक तर्क-संगत निष्कर्ष यह विचार था कि तुम्हें हर चीज को बड़े जोर से त्याग देना चाहिये, और यह कि तुम्हें तबतक सत्य नहीं मिल सकता जबतक कि तुम दुनिया की हर चीज से विरक्त न

हो जाओ, वैराग्य का यही मतलब समझा जाने लगा, दुनिया भर के लिये विरक्ति।

लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने से पहले हमें हर चीज से विरक्त क्यों हो जाना चाहिये। हम इतना ही करते हैं कि संसार की अपूर्णता को देखते हैं, सामान्य जीवन को स्वीकार नहीं करते जो अज्ञान और मिथ्यात्व के आधीन है लेकिन हम उससे घृणा नहीं करते, हम उसे घृणा और जुगुप्सा की दृष्टि से नहीं देखते, हम उसे अचंचलता और समता के साथ देखते हैं और यह समझने की कोशिश करते हैं कि वह क्या है और भगवान् की लीला में उसका क्या स्थान और प्रयोजन है।

शिष्य—साधारणतः यह माना जाता है कि आदमी किसी असंतोष के कारण ही आध्यात्मिक जीवन को अपनाता है। क्या यह चैत्य असंतोष होता है ?

श्रीअरविंद—चैत्य असंतोष से तुम्हारा मतलब क्या है ?

शिष्य—मन और प्राण में प्रतिबिंबित चैत्य असंतोष।

श्रीअरविंद—सच्चा असंतोष मन और प्राण के उस असंतोष से भिन्न है जो उदाहरण के लिये तब आता है जब कोई तुम्हारी स्त्री को ले भागे या तुम्हें आर्थिक हानि हो।

शिष्य—तब सीधे गुरु की शरण में जाओ ! *(हंसी)*

श्रीअरविंद—सच्चा असंतोष आंतरिक सत्ता से आता है। जिसे एक बार आंतरिक सत्ता का स्पर्श मिल जाये उसे फिर सामान्य जीवन से संतुष्टि नहीं होती।

शिष्य—क्या अभीप्सा हमेशा चैत्य होती है ?

श्रीअरविंद—हां, सच्ची अभीप्सा हमेशा मूलतः चैत्य होती है। यह वेद की भाषा में "धरती से अपने घर की ओर उठती हुई ज्वाला है।" अग्नि 'अभीप्सा की आग' है। वह मानसिक और प्राणिक रूप ले सकती है जो अधकचरे हो सकते हैं और इस तरह स्वयं अभीप्सा में भी अपूर्णता हो सकती है। लेकिन इन अपूर्ण रूपों के पीछे भी कोई चीज जलती है। एक

बार तुम्हारे जीवन में यह अग्नि सुलग जाये तो फिर साधारण जीवन से संतुष्ट रहना असंभव हो जाता है।

शिष्य—क्या वेद में अग्नि का अर्थ हमेशा चैत्य अभीप्सा होता है ?

श्रीअरविंद—हां, लेकिन हमारे अंदर और विश्व में अग्नि के बहुत-से रूप होते हैं, बहुत-सी शक्तियां होती हैं। आंतरिक सत्ता के भीतर की अग्नि को उन लोगों ने संभवतः गार्हपत्याग्नि कहा है।

शिष्य—जब हम कहते हैं कि अमुक के अंदर चैत्य सत्ता सामने आ गयी है या मजबूत हो गयी है तो इसका क्या मतलब होता है ?

श्रीअरविंद—जब हम कहते हैं कि चैत्य सत्ता सतह पर आ गयी है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसने मनुष्य की प्रकृति के अन्य अवयवों पर प्रभाव डालना शुरू कर दिया है। वह पहले सक्रिय प्रभाव बनती है और फिर अंततः प्रकृति पर केवल उसीका प्रभाव रहता है और इसका परिणाम यह होता है कि सारी सत्ता सत्य की ओर मुड़ जाती है। जिस अनुपात में वह व्यक्ति में अपना अधिकार तथा प्रभाव, अपने रूपायणों तथा व्यक्तित्वों को बढ़ाती है उसी अनुपात में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति की चैत्य सत्ता अधिक विकसित है।

सामान्यतः कुछ ऐसे बाहरी लक्षण भी होते हैं जिनसे तुम्हें पता चल सकता है कि व्यक्ति का चैत्य अधिक विकसित है। उदाहरण के लिये ऐसे व्यक्ति में अधिक शुद्धि होती है, औरों के साथ व्यवहार में अधिक कोमलता होती है, सुरुचि होती है। तुम इसके द्वारा अंतरात्मा की आवाज भी सुन सकते हो जो चैत्य द्वारा आती है। लेकिन मन में सुनायी देनेवाली आवाज के साथ उसे मिला न देना चाहिये। चैत्य आवाज सच्ची होती है और उसमें मानसिक आवाज की अपेक्षा अधिक अनिवार्यता होती है।

शिष्य—मन, प्राण और शरीर द्वारा काम करने के अतिरिक्त क्या चैत्य सत्ता का कोई अपना क्षेत्र और अपनी क्रिया भी होती है ?

श्रीअरविंद—हां, उसका अपना क्षेत्र भी होता है और अपनी क्रिया भी।

शिष्य—लेकिन यह चैत्य सत्ता सबके अंदर उपस्थित होते हुए भी उनके लिये अज्ञात रहती है ?

श्रीअरविंद—तुम कह सकते हो कि साधारण मनुष्य की अंतरात्मा उसकी पहुंच के भीतर नहीं होती। वह इतना ज्यादा प्राणिक जीवन और अन्य आवेगों में रमा हुआ होता है कि उसे कदाचित् ही अपनी अंतरात्मा की उपस्थिति का भान होता है, कभी एक आध झलक मिल जाये तो और बात है।

शिष्य—क्या मनुष्य के लिये यह संभव है कि वह अंतरात्मा से अपना संबंध बिल्कुल काट ले ? गुह्यवादी 'आत्मा-विहीन मनुष्य' की बात कहते हैं।

श्रीअरविंद—प्रश्न यह है कि क्या अधिकतर लोगों का अपनी अंतरात्मा से कोई संबंध होता है ?

शिष्य—इसका तो यह मतलब हुआ कि मनुष्य की अंतरात्मा उसके नब्बे प्रतिशत क्रिया-कलाप में रस नहीं रखती और अपने-आपको अलग-थलग रखती है।

श्रीअरविंद—हां, मनुष्य की अधिकतर क्रियाएं बाहरी प्रभावों से निर्देशित होती हैं, आंतरिक सत्ता से नहीं।

शिष्य—तो क्या अंतरात्मा को आध्यात्मिक जीवन की पुकार सुनायी देती है ?

श्रीअरविंद—हां।

शिष्य—क्या यह संभव है कि पूरा-का-पूरा चैत्य पुरुष एक साथ बाहर निकल आये या वह धीरे-धीरे आता है ?

श्रीअरविंद—साधारणतः मनुष्य को अंतरात्मा की झलकें दिखायी देती हैं और वह जरा-जरा करके सतह तक आती है और उसके बाद ही उसका सब पर शासन होता है। लेकिन कोई बंधा हुआ नियम नहीं है। चैत्य पुरुष एक साथ पूरी तरह सतह पर आ सकता है।

शिष्य—ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग दुःख-दर्द के कारण ही जाग पाते हैं। क्या दुःख-दर्द जाग्रति का आवश्यक अंग है ?

श्रीअरविंद—नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता। यह निश्चय ही एक गलत विचार है। यह ईसाई सिद्धांत है और सत्य का विकृत रूप है।

शिष्य—क्या दुःख शुद्धि का साधन नहीं है ?

श्रीअरविंद—हमेशा नहीं। इसमें ऐसी शक्तियां आ जाती हैं जो आध्यात्मिक नहीं होतीं। आत्म-शुद्धि के लिये सदा दुःख-दर्द में से गुजरना जरूरी नहीं है।

शिष्य—अधिकतर लोग कोई आघात पाने के बाद ही आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ते हैं।

श्रीअरविंद—कुछ लोगों के बारे में यह बात ठीक है, सबके बारे में नहीं। कभी मनुष्य किसी चीज से आसक्त होता है और आसक्ति का विषय अचानक हटा दिया जाता है और उसके जीवन में एक नया अध्याय शुरू हो जाता है। कभी-कभी रास्ते में खड़ी बाधा गिरा दी जाती है और वह पुकार सुन पाता है।

शिष्य—इसका मतलब यह हुआ कि पहले से परदे के पीछे तैयारी चल रही थी और किसी आघात के कारण वह अचानक सतह पर आ जाती है।

मनुष्य के पास जिस तरह से पुकार आती है वह तरीका भी कभी-कभी अचानक मिलता है। उदाहरण के लिये लाला के जीवन में यूं हुआ। एक बार वह कहीं चला जा रहा था कि उसने रास्ते में दो मछुआरी-स्त्रियों को बात करते हुए सुना, 'देर हो गयी है, अंधेरा छाता जा रहा है, रास्ते में बाधाएं आ सकती हैं, चलो जल्दी घर चलें।' इस बातचीत ने उसे आध्यात्मिक जीवन में धकेल दिया।

श्रीअरविंद—ऐसी बातें बहुत बार होती रहती हैं। ये बाहरी बातें बहाने या यूं कहें आवश्यक स्पर्श देने के लिये अवसर होती हैं। यह विशेष रूप से भारत में होता है जहां आध्यात्मिक वातावरण हमें घेरे रहता है। यहां जरा-सा स्पर्श भी आदमी को खोलने के लिये काफी होता है।

शिष्य—क्या आपका ख्याल है कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में आध्यात्मिक जीवन ज्यादा आसानी से मिल सकता है ?

श्रीअरविंद—यह मेरे ख्याल की बात नहीं, एक तथ्य है क्योंकि हम यह काम पिछले चार-पांच हजार वर्षों से करते चले आ रहे हैं। सारा अतीत

विलक्षण रूप में जिंदा है तो जरा-सा स्पर्श ही मनुष्य को उसकी ओर खोल देता है, अगर उसके अंदर ऐसी कोई चीज हो जो आवश्यक सामग्री जुटाती है।

शिष्य—ऐसा क्यों है कि आध्यात्मिक जीवन भारत की अपेक्षा यूरोप में अधिक कठिन है ?

श्रीअरविंद—पहला कारण तो यह कि यूरोप में यह चीज कभी इस मात्रा में नहीं रही जितनी भारत में। दूसरे यह कि उनके यहां जो कुछ था वह भी उनके मानसिक और प्राणिक जीवन से बहुत दूर है अतः वह पीछे हट गया है। शायद आजकल यह वहां भी वापिस आ रहा है। इसलिये जिन यूरोपीय लोगों में आध्यात्मिक अभीप्सा की ओर झुकाव है वे भारत की ओर मुड़ते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे भारतीय लोगों की ओर मुड़ते हैं बल्कि यहां संचित आध्यात्मिक शक्ति की ओर मुड़ते हैं। बहरहाल भारत में आरंभ करना ज्यादा सरल है।

शिष्य—क्या आध्यात्मिक मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों के साथ संघर्ष करना बाहर की अपेक्षा भारत में ज्यादा आसान नहीं है ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है, और सब नहीं। कुछ ऐसी कठिनाइयां हैं जिन्हें तुम आसानी से यहां हल कर सकते हो पर कुछ कठिनाइयां हैं जिन्हें हल करने में यूरोप में ज्यादा आसानी रहती है। उदाहरण के लिये यूरोप की अपेक्षा हिंदुस्तान में मायावाद से पीछा छुड़ाना ज्यादा कठिन है।

शिष्य—क्या अन्य लोगों की अपेक्षा भारतीय अधिक आध्यात्मिक हैं ?

श्रीअरविंद—नहीं, ऐसा नहीं है। कोई भी राष्ट्र पूरी तरह आध्यात्मिक नहीं है। भारतीय औरों की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक नहीं हैं लेकिन भारतीय जाति के पीछे पिछला आध्यात्मिक प्रभाव है।

शिष्य—कुछ लोग जो प्रमुख राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं, मुझे यूरोपीय शक्तियों के भारत में अवतार मालूम होते हैं।

श्रीअरविंद—हो सकता है अवतार न हों, यूरोपीय विचार से बहुत अधिक प्रभावित हों। उदाहरण के लिये महात्मा यूरोपीय हैं—सचमुच भारत में रूसी ईसाई, और कुछ यूरोपीय शरीरों में भारतीय हैं !

शिष्य—महात्मा जी यूरोपीय हैं !

श्रीअरविंद—हां, जब यूरोपीय कहते हैं कि वे बहुत-से ईसाइयों में ज्यादा ईसाई हैं, कि वे आधुनिक काल के ईसा हैं तो उनकी बात बिल्कुल ठीक होती है। उनकी सारी शिक्षा ईसाइयत से आती है और यद्यपि उसे जो रूप दिया जाता है वह भारतीय होता है पर भाव एकदम ईसाइयत का होता है। वे भले ठीक-ठीक ईसा न हों पर उसी धारा में हैं। उनकी शिक्षा अधिकांशतः टॉल्सटाय, इंजील और जैन धर्म से प्रभावित है; बहरहाल भारतीय शास्त्रों—उपनिषदों और गीता, जिनकी व्याख्या वे अपनी ही दृष्टि से करते हैं, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक इन पाश्चात्य चीजों से प्रभावित है।

शिष्य—बहुत-से शिक्षित भारतीय उन्हें आध्यात्मिक पुरुष मानते हैं।

श्रीअरविंद—हां, क्योंकि यूरोपीय उन्हें आध्यात्मिक पुरुष कहते हैं। वे जिस बात का प्रचार करते हैं वह भारतीय आध्यात्मिकता नहीं है। वह रूसी ईसाइयत से उत्पन्न अहिंसा, कष्ट-सहन आदि है।

शिष्य—वे स्वीकार करते हैं कि वे टॉल्सटाय से बहुत प्रभावित थे।

श्रीअरविंद—हां, टॉल्सटाय उनके गुरु थे।

शिष्य—रूसी लोगों का मिजाज उत्साहपूर्ण और साथ ही दुःखमय और विषादग्रस्त होता है।

श्रीअरविंद—वे बल और दुर्बलता का विचित्र मिश्रण हैं, उनकी बुद्धि में आवेग होता है, उसे आवेगमना बुद्धि कह सकते हैं। लेकिन उनकी सत्ता उद्विग्न और बेचैन होती है। लेकिन उनमें कोई चीज बहुत कोमल और चैत्य भी है यद्यपि उनकी अंतरात्मा बहुत स्वस्थ नहीं है। इसलिये मेरा यह कहना ठीक नहीं है कि गांधी रूसी ईसाई हैं क्योंकि वे बहुत ज्यादा शुष्क हैं। उनमें बौद्धिक आवेग है, प्रबल नैतिक इच्छा-शक्ति है लेकिन वे रूसियों की अपेक्षा अधिक शुष्क हैं। पीड़ा-सहन के जिस सिद्धांत का वे प्रचार कर रहे हैं वह रूस में यूरोप के सब देशों से अधिक है। अन्य ईसाई जातियां इसपर विश्वास नहीं करतीं हैं, वे उसे मन में भले रखें पर रूसियों के तो रक्त में ही यह है। वे पीड़ा-सहन का प्रचार करने की भूल

करते हैं, हम भारतीय भी इसी तरह वैराग्य का प्रचार करने की भूल करते हैं।

शिष्य—शायद महात्मा जी नेता के रूप में यूरोप में ज्यादा सफल होते।

श्रीअरविंद—अगर तुम्हारा मतलब राजनीतिक नेता से है तो वे कहीं भी सफल न हो पाते।

शिष्य—लेकिन यूरोप उनके मशीनों के विरोध और जीवन में सादगी के विचार को स्वीकार कर लेता।

श्रीअरविंद—मुझे नहीं लगता। बहुत-से लोग मशीनों के विरोध में हैं, यद्यपि वे हैं अल्प संख्या में और उनके हाथ में कोई शक्ति नहीं है, यूरोप में सादगी का भी एक फैशन रहा है। वे यहां होते तो शायद उसे यूरोपीय रंग दे देते।

शिष्य—और चरखे के बारे में ?

श्रीअरविंद—यूरोप में ऐसे लोग हैं जिन्हें इसके बारे में उत्साह है। लेकिन आखिर चरखा मामूली-सी चीज है।

शिष्य—भारत में ऐसे लोग हैं जो यम, नियम, अहिंसा और सादगी के कारण महात्माजी को आध्यात्मिक पुरुष मानते हैं।

श्रीअरविंद—पातंजलि और गांधी तथा टॉल्सटाय के लक्ष्य में बहुत फर्क है, पातंजलि का लक्ष्य था एक उच्चतर चेतना तक उठना। उनका तरीका था राजसिक के स्थान पर सात्त्विक प्रकृति को बिठाना। उसमें नैतिकता या सदाचार का कोई विचार न था और उन्होंने यम-नियम को कभी अपने प्रयास का आदर्श नहीं बनाया। उनका लक्ष्य था सामान्य चेतना से ऊपर उठना और संयम के बारे में भी उनका विचार नैतिकता पर आधारित न था।

वे आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये शक्ति संग्रह करना चाहते थे इसलिये वे सामान्य तरीके से अपने बल के अपव्यय को प्रोत्साहन न देते थे।

शिष्य—गीता ने चार तरह के भक्तों की बात की है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इसमें अर्थार्थी का मतलब क्या है ?

श्रीअरविंद—ऐसा भक्त जो किसी अर्थ की पूर्ति के लिये भगवान् से मांग करता है।

शिष्य—उदाहरण के लिये जब आप भगवान् से भारत की स्वाधीनता चाहते थे।

श्रीअरविंद—तब मैं अर्थार्थी भक्त था।

शिष्य—या ज्ञानी और अर्थार्थी के मिश्रण।

श्रीअरविंद—नहीं, मेरे अंदर ज्ञान न था। मैं न जानता था कि भगवान् हैं क्या। लेले से मिलने के दो वर्ष पहले मैंने गंभीरता से साधना शुरू की थी। उन दिनों देशपांडे हठयोग, आसन इत्यादि कर रहे थे, उनमें प्रचार की भावना थी। वे मुझे भी अपने साथ ले लेना चाहते थे लेकिन मैंने सोचा कि जो योग मुझसे जगत् को छुड़वाना चाहता है वह मेरे लिये नहीं है। मुझे अपने देश को स्वतंत्र करवाना था, मैंने इसे तब गंभीर रूप से लिया जब मैंने यह जाना कि जिस तपस्या का उपयोग संसार को छोड़ जाने के लिये किया जाता है उसे क्रिया में बदला जा सकता है। मैंने जाना कि योग से शक्ति प्राप्त होती है और मैंने सोचा : भला मैं शक्ति प्राप्त करके उसका उपयोग अपने देश को स्वतंत्र करने में क्यों न करूं ?

शिष्य—भगवान् ने चालाकी से आपकी देश को स्वाधीन बनाने की इच्छा का उपयोग कर लिया।

श्रीअरविंद—वह समय था जब देश पहले था, मानवजाति बाद में और बाकी सबके लिये कोई जगह न थी। मैंने आध्यात्मिक जीवन में एक ओर के पार्श्व-द्वार से प्रवेश किया था।

२५-६-१९२६

श्रीअरविंद—(एक शिष्य की ओर देखते हुए) पिछली बार तुमने कहा था कि कष्ट और दुःख से शुद्धि होती है, क्या तुम कह सकते हो कि कैसे ?

शिष्य—जब दुःख-दर्द आता है तो वह आदमी को अपने उपकरणों से अलग होने के लिये और उसे अपनी सच्ची आत्मा का परिचय प्राप्त करने के लिये बाधित करता है इसलिये वह शुद्धि का अनुभव करता है और अपनी निम्न प्रकृति से ऊपर उठने में सहायता पाता है।

श्रीअरविंद—यह जरूरी नहीं है कि इस कारण तुम दुःख-दर्द से अलग हो जाओ, जबतक कि तुम्हारे अंदर उससे हटकर पीछे खड़े होने की क्षमता न हो। यह शक्ति दुःख-दर्द के अंदर अंतर्निहित नहीं होती। उन अभागों का उदाहरण लो जो जेल में बंद किये जाते हैं। वे दुःख तो पाते हैं पर उससे उनकी शुद्धि नहीं होती, इसके विपरीत वे पहले से ज्यादा बिगड़ जाते हैं। मेरे मतानुसार दुःख-दर्द प्रकृति की अपूर्णता का चिह्न है। यह वैयक्तिक और वैश्व प्रकृति पर अपूर्णता की छाप है। तुम्हें दुःख-दर्द से दो बातें सीखनी चाहियें, एक तो यह कि वह क्यों है दूसरे यह कि उसे कैसे जीता जाये।

लेकिन अगर तुम उसमें रस लो और ईसाई साधुओं की तरह उसे निमंत्रण दो—वे चाबुक खाते और उसमें मजा लेते थे—तो मैं इसे पथ-विचलन और विकृति कहूंगा।

शिष्य—क्या यह सच नहीं है कि जब हम कष्ट पाते हैं तो भगवान् की ओर मुड़ते हैं ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। ऐसे लोग हैं जो कष्ट पर कष्ट पाते हैं पर कभी भगवान् की ओर नहीं मुड़ते।

शिष्य—रवींद्रनाथ ठाकुर का कहना है "दुःख हो या सुख तू जो कुछ दे मैं उसे सिर लेता हूं और समान आनंद के साथ स्वीकार करता हूं।"

श्रीअरविंद—हां, हां, यह ठीक है। यह बहुत ज्यादा भावुकतापूर्ण है और जरूरी नहीं कि सच हो।

शिष्य—अगर भगवान् मेरे लिये कष्ट भेजें तो मैं किसलिये विरोध करूं ?

श्रीअरविंद—मैं विरोध नहीं करता, मैं केवल सीखता हूं। मैं न तो उससे भागता हूं न झिझकता हूं। तुम्हें उसे भी उसी तरह देखना चाहिये जैसे जगत् की और चीजों को देखते हो, उदाहरण के लिये पाप और अशुभ को लेकिन तुम्हें पाप और अशुभ को स्वीकार न करना चाहियें।

शिष्य—लेकिन हर चीज भगवान् से आती है।

एक और शिष्य—ईसाई गुह्यवाद में भक्ति की तीव्रता से पीड़ा के सुख

अनुभव करने का विचार आया है। वे यही मानते हैं कि हर चीज प्रियतम से आती है और स्वागत के योग्य है।

श्रीअरविंद—कौन-सी चीज भगवान् से नहीं आती ? अशुभ और पाप भी तो भगवान् से आते हैं, तब उन्हें भी क्यों न अपनाया जाये ? पाप और अशुभ का भी विश्व में और विकास में अपना स्थान है।

लेकिन यह मानव अंतरात्मा का विधान नहीं है। मानव जीव यहां कष्ट सहने के लिये नहीं आया है। गीता आसुरी तपस्या की बात करते हुए कहती है कि जो लोग दुःख-कष्ट को निमंत्रण देते हैं और शरीर के तत्त्वों को यातना देते हैं वे स्वयं "मुझे", शरीर में स्थित कृष्ण को यातना देते हैं।

जब तुम कहते हो कि सब कुछ भगवान् से आता है तो इस बात को समझदारी के साथ लेना चाहिये। अगर तुम वेदांती चेतना में रहो तो यह ठीक है। हर चीज भगवान् से आती है, इसका दूसरी भाषा में यह अर्थ है कि अनंत अपने-आपको हर चीज में अभिव्यक्त करता है लेकिन यह जरूरी नहीं है कि यहां पर अनंत की अभिव्यक्ति दुःख-दर्द और अशुभ का रूप ले।

शिष्य—मान लीजिये कि मैं यह वृत्ति अपनाऊं कि हर चीज भगवान् से आती है तो क्या मैं आध्यात्मिक प्रगति न कर सकूंगा ?

श्रीअरविंद—तुम ऐसी कोई भी वृत्ति अपना सकते हो जो तुम्हें आध्यात्मिक लाभ पहुंचाये। उदाहरण के लिये जब दुःख-दर्द आये तो तुम यह मान सकते हो, "मुझे यह स्पर्श मिला है, मैं जानता हूं कि यह किस कारण से आया है, मुझे इससे पिंड छुड़ाना चाहिये।"

यह ईसाइयों की तरह दुःख में मजा लेने से बहुत भिन्न है। अनंत की गति में शुभ और अशुभ, दुःख और सुख दोनों हैं, यानी उच्चतर और निम्नतर गतियां हैं ! अगर तुम निम्नतर को बुलाते हो, उसमें मजा लेते हो तो तुम ऐसा कर सकते हो ! अगर तुम दुःख चाहते हो, भगवान् तुम्हें प्रचुर दुःख दे सकते हैं लेकिन इससे तुम उसके ऊपर न उठ सकोगे।

शिष्य—साधारणतः दुःख तभी आता है जब मनुष्य के अंदर कोई चीज उसमें मजा लेती है।

श्रीअरविंद—हां, निश्चय ही। जब त्याग भी किया जाता है तब भी प्राण और भौतिक के अंदर कोई बहुत ही अंधकारमय वस्तु उसमें आनंद लेती है।

शिष्य—मैं अनंत की एक गति को क्यों स्वीकार करूं और दूसरी को अस्वीकार ? इसकी कसौटी क्या है ?

श्रीअरविंद—ज्ञान ही कसौटी है। तुम उन गतियों को स्वीकार करो जो तुम्हारे विकास में सहायक हों, और तुम्हें दिव्य चेतना में मुक्त करें और उन गतियों को त्याग दो जो तुम्हें नीचे की ओर बांध देती हैं।

शिष्य—और अगर मैं दुःख को सुख में बदल दूं ?

श्रीअरविंद—तब वह पीड़ा नहीं रहता। वह तो आनंद की एक अनुभूति हो जाती है। दुःख और आत्म-बलि का यह विचार आसुरी प्राण-लोक से आता है जहां दुःख-दर्द ही विकास का नियम है और आसुरी प्रभाव ही उसे मानवजाति पर डालता है।

शिष्य—क्या दुःख-दर्द और अशुभ भी समस्त अभिव्यक्ति के विधान नहीं हैं ?

श्रीअरविंद—बिल्कुल नहीं, यह हमारे विकास की "एक परिस्थिति" मात्र है। ऐसे लोक भी हैं जहां दुःख-दर्द के तत्त्व का प्रवेश तक नहीं होता।

शिष्य—क्या द्वित्त अभिव्यक्ति का आवश्यक विधान नहीं है ?

श्रीअरविंद—नहीं, यह भी "परिस्थिति" है हमारे विकास की। द्वित्त अज्ञान में अपूर्ण उपकरणों द्वारा अनंत को अभिव्यक्त करने का एक उपाय है। उदाहरण के लिये अतिमानस और अतिमानसिक जगत् में दुःख-दर्द, द्वित्त आदि का प्रवेश तक नहीं हो सकता क्योंकि वहां इनकी कोई संभावना ही नहीं है।

दुःख-दर्द और पीड़ा क्या है ? पीड़ा का अर्थ है कि चेतना अमुक शक्तियों के संस्पर्श को नहीं सह सकती, उसे आत्मसात् नहीं कर पाती क्योंकि मेरे अंदर वह नहीं है जिसे वेद की भाषा में ऋतम् कहते हैं—चेतना की सच्ची या उचित गति। भौतिक दर्द को ले लो। वह क्या है ? कोई

शक्ति मेरे पास आती है, मैं उसे पकड़ नहीं पाता, उसपर अधिकार नहीं कर पाता, उसके संपर्क को नहीं सह पाता और उसे आत्मसात् भी नहीं कर पाता तो उसकी प्रतिक्रिया होती है पीड़ा। अगर उस स्पर्श का सामना करने के लिये पूरी शक्ति या पर्याप्त शक्ति होती तो दर्द न होता। जिसे भ्रांति, अशुभ, या पाप कहा जाता है उसके बारे में भी यही बात है, वास्तव में अनंत आनंद यहां द्वित्त में पीड़ा में विकृत हो जाता है परंतु पीड़ा अनंत आनंद में प्रवेश नहीं कर पाती, वैसे ही जैसे शुभ और अशुभ की धारणाएं अनंत शक्ति में या भ्रांति अनंत ज्ञान में नहीं घुस पाती।

भ्रांति है और मेरे अंदर घुस आती है क्योंकि मैं उस ज्ञान में प्रवेश करने में असमर्थ हूं जो मेरे पास उस रूप में आता है। मैं उसमें से ज्ञान को निकाल कर उसे आत्मसात् करने में असमर्थ हूं। अशुभ के बारे में भी यही बात है।

शिष्य—लेकिन संसार में पीड़ा है ही क्यों ?

श्रीअरविंद—बात यह है कि अनंत निश्चेतना में अपनी एक प्रतिमा बनाते हैं—तुम कह सकते हो निर्ज्ञान में भी—और अपनी अनंत शक्ति के दबाव की सहायता से उसमें उच्चतर और उच्चतम ज्ञान की कोटियों को प्रकट करने की कोशिश करते हैं, यहांतक कि वह भगवान् तक पहुंच जाये। यह इसलिये होता है क्योंकि अनंत के आगे अनंत संभावनाएं हैं और उनमें सभी किसी-न-किसी समय चरितार्थ अवश्य होंगी। यह विश्व तो उनमें से एक संभावना है। अगर तुम पूछो कि वह क्यों इसकी रचना करते हैं तो हमें यह कहना पड़ेगा कि "क्योंकि यह संभव है इसलिये हम यह कहने के लिये बाधित होते हैं कि वे उसे लीला के लिये करते हैं।"

यह उचित नहीं है कि हम भगवान् से आशा करें कि वे उन्हीं हेतुओं से कार्य करें जिनसे मनुष्य करते हैं, अगर तुम मानव अर्थों में 'क्यों' और 'किस हेतु' पूछो तो इसका कोई उत्तर नहीं है।

शिष्य—आपने कहा था कि आसुरी स्तर या जगत् से पीड़ा का भाव आता है, आपने यह भी कहा था कि पीड़ा ही उनके विकास,का विधान है। तो क्या पीड़ा एकमात्र विधान है ?

श्रीअरविंद—दो जगत् हैं, एक दिव्य दूसरा आसुरी। दिव्य जगत् सामंजस्य और रमणीय सौंदर्य का जगत् है जहां हर चीज व्यवस्था में रहती है, तुम उसे 'आदर्शों का जगत्' कह सकते हो, स्वाधीनता का जगत् यानी सत्य, शक्ति और आनंद की मुक्त गतियों का जगत्। लेकिन उसे यहां धरती पर चरितार्थ करना संभव नहीं है। दूसरी ओर है आसुरी जगत् जो शक्ति का, उग्र और कठोर शक्ति का जगत्, अपने-आपको बहुत बढ़ाने-चढ़ाने का, आत्म-पीड़न का, अपने-आपकी बलि देनेवाला जगत् है। वहां सामंजस्य नहीं है। वह संघर्ष, कलह और संग्राम से गति करता है। असुर पीड़ा द्वारा, जिसे गीता "आसुरी तप" कहती है, उसके द्वारा, उग्र साधनों द्वारा, अपने-आपको यातनाएं देकर अपनी शक्ति बढ़ाता है और इस तरह देवों की शक्ति तक पहुंचने की कोशिश करता है।

शिष्य—देवों और असुरों के बीच मानवजाति की बुरी हालत है क्योंकि देवों की पूर्णता यहां धरती पर चरितार्थ नहीं हो सकती, न वह इस जगत् का विधान है। दूसरी ओर आसुरी आवेग और प्रवृत्तियां तो हमारे पीछे हैं ही।

श्रीअरविंद—यही तो देवासुर-संग्राम है जिसका सभी धर्मों ने चित्रण किया है।

शिष्य—धर्म कहते हैं, तुम देवों का अनुसरण करो तो सुरक्षित रहोगे।

श्रीअरविंद—यह इतना सरल नहीं है। यह देवों के लिये बहुत अच्छा हो सकता है पर मनुष्य के लिये नहीं क्योंकि देव उनके अपने ही लोक में आनंद की कामना करेंगे जैसे असुर अपने लोक में। योग की एक स्थिति में तुम इन दोनों लोकों को स्पष्ट देख सकते हो और उनसे आनेवाली प्रेरणाओं और आवेगों को पहचान सकते हो लेकिन अगर तुम यहां पर सत्य को अभिव्यक्त करना चाहो तो तुम्हें और भी ऊंचे लोक में चढ़ना होगा जहां से देवों और असुरों के लोक अपना सत्य पाते हैं। जब मैं दिव्य लोक की बात करता हूं तो उसका मतलब महत्तर देवों से नहीं होता। दैवी

और आसुरी जगत् दोनों, साधकों को सीधी आध्यात्मिक चढ़ाई से भटका देते हैं।[1]

शिष्य—आपने पीड़ा के कारण शक्ति के बढ़ने की बात कही। मेरा ख्याल है कि यह उसी तरह है जैसे शारीरिक प्रतिक्रियाओं में होता है। जब शरीर के अंदर कोई विष या जीवाणु प्रविष्ट कराया जाता है तो सारा शरीर यूं प्रतिक्रिया करने लगता है कि रोग को मारने के लिये आवश्यकता से अधिक ऐंटी टॉक्सीन और ऐंटी जर्म पैदा होने लगते हैं।

श्रीअरविंद—परंतु यह दुःख-दर्द या पीड़ा का उदाहरण नहीं है, यह संघर्ष का विधान है। यह जानी हुई बात है कि कुछ हदतक लड़ाई मनुष्य की शक्ति को बढ़ाती है परंतु पीड़ा की बात कुछ और है।

शिष्य—लेकिन अगर हमें दुःख को अस्वीकार करना है तो साथ ही हमें सुख को भी तो अस्वीकार करना चाहिये क्योंकि वह भी तो अपूर्ण है।

श्रीअरविंद—हां, इसीलिये तो गीता कहती है कि तुम्हें राग और द्वेष दोनों को, अज्ञान और आंशिक ज्ञान को त्यागना चाहिये और इस द्वंद्व के परे सच्चे आनंद की ओर जाना चाहिये। यहां सुख-दुःख दोनों उसका गलत प्रतिनिधित्व करते हैं।

शिष्य—बंगाल में एक शैव संप्रदाय है जो अपने शरीर को बहुत अधिक यातना देता है। शायद वे सोचते हैं कि इससे उन्हें अधिक पुण्य-लाभ होगा।

श्रीअरविंद—भारतीय वैरागियों का शरीर को कष्ट देने का भाव वही नहीं है जो ईसाइयों का है। भारतीय पीड़ा द्वारा आत्म-शुद्धि नहीं चाहते। वे शरीर पर अधिकार पाना चाहते हैं, कि शरीर वही करे जो आत्मा उससे करवाना चाहे। तपश्चर्या के पीछे यही भाव था। आध्यात्मिक विकास में सदा ही भारतीय विचार की आत्म-संयम की प्रवृत्ति रही है।

[1] यहां सच्चे देवों की बात नहीं है। ध्यान रहे कि बहुत प्रकार के छोटे-बड़े देव होते हैं जो चेतना के अनेक स्तरों पर रहते हैं। इनकी पूजा मनुष्यों को निचले लोक में बांध देती है और मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतना से परे उच्चतर चेतना की ओर चढ़ने में बाधा देती है।

शुरू में ही बुद्ध का विचार था कि जगत् से दुःख-दर्द और अशुभ को जड़ से उखाड़ फेंकें। लेकिन उन्होंने कहा कि यह धरती पर रहकर नहीं किया जा सकता। इसके लिये तुम्हें निर्वाण में जाना होगा। भारतीय वैरागी का आत्म-पीड़न उग्र आसुरी रीति तथा आत्म-इच्छा द्वारा शरीर पर बहुत बड़ी प्राणिक शक्ति आरोपित करके शरीर पर प्रभुता प्राप्त करने के प्रयास द्वारा किया जाता था। इसमें एक हदतक शरीर के लिये तिरस्कार का भाव भी था, उन बाधाओं और सीमाओं के कारण जो शरीर आत्मा पर आरोपित करता है, यह उस दासता के विरुद्ध उग्र विद्रोह था।

शिष्य—ईसाई भाव है "भाग्यवान् हैं वे जो शोक मनाते हैं क्योंकि उन्हें आश्वासन मिलेगा।" शायद वे यहां जितना कष्ट सहते हैं उसके अनुपात में स्वर्ग में पुरस्कार पाते हैं।

श्रीअरविंद—इसमें इतना हिसाब नहीं है। इसका मतलब यह है कि जब तुम ज्यादा दुःखी होते हो तो तुम ज्यादा कृपा पाते हो, यह एक ऐसा अवसर है जो भगवान् तुम्हें अपने-आपको मुक्त करने के लिये भेजते हैं। उनके अनुसार मुक्ति क्रूस में है—वस्तुतः वह मुक्ति का प्रतीक है।

शिष्य—हम देखते हैं कि ईसाइयों में भी अलग-अलग विचारोंवाले लोग हैं। उदाहरण के लिये 'क्रिश्चियन सायंटिस्ट' तो दुःख के अस्तित्व से ही इंकार करते हैं। उनके अनुसार यह एक भ्रम है, अगर हम उसे अस्वीकार करें तो वह गायब हो जायेगा।

श्रीअरविंद—बात ठीक है, लेकिन केवल मन में अस्वीकार करना काफी नहीं है, सारी सत्ता में उसे अस्वीकार करना होगा।

शिष्य—एक आदमी के बारे में कहा जाता है कि उसपर नाग के विष का असर न होता था। क्या यह संभव है ?

श्रीअरविंद—हां, यह संभव है लेकिन तब जब तुम उसे केवल मन से नहीं, भौतिक चेतना से भी अस्वीकार कर दो। तुम उसे मन से तो अस्वीकार करते हो लेकिन तुम्हारा शरीर 'ओह, ओह' करता रहे तो।

शिष्य—लेकिन क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि दुःख से इंकार करने

की जगह हम दुःख के कारण का पता लगाकर उसे जड़ से उखाड़ फेंकें, तब दुःख गायब हो जायेगा।

श्रीअरविंद—और दुःख का कारण क्या है ?

शिष्य—अगर मेरे पेट में दर्द हो रहा है तो इसका कारण यह हो सकता है कि मैंने ज्यादा खा लिया हो।

श्रीअरविंद—यह सच है कि अधिक खाने से बचने पर तुम्हारे पेट में दर्द न हो पर फिर भी पेट में दर्द तो हो ही सकता है।

जो तुम कह रहे हो उसका मतलब होगा तुम्हारी प्रकृति के विधान का पता लगाना और उसे बनाये रखना। दो तरीके हैं: एक है आज्ञापालन, दूसरा है प्रभुत्व। तुम जो बता रहे हो वह आज्ञापालन का तरीका है। जबतक तुम सामान्य स्तर पर रहो तबतक यह बिल्कुल सच है। लेकिन मैं इस बारे में उच्चतर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से बात कर रहा हूं।

शिष्य—पीड़ा को आनंद में रूपांतरित कैसे किया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—शुरू में हम दो तरीकों से पीड़ा से लाभ उठा सकते हैं। एक तो हम उसे सहना सीखते हैं, दूसरे हम अपने अंदर किसी ऐसी चीज को पाते हैं जिससे दुःख नहीं सहना पड़ता।

इस अलगाव के बाद हम उसे आनंद में रूपांतरित करना सीख सकते हैं, पहली अवस्था में सत्ता का एक अंश दुःख से अलग खड़ा रहता है और उसमें मजा लेता है। दूसरी स्थिति में अलग सत्ता का आनंद दुःख में प्रवेश करता है और अंत में केवल तीव्र आनंद रह जाता है। दुःख उसमें रूपांतरित हो जाता है।

(यहां विषय बदल गया)

शिष्य—कहते हैं कि तिब्बत में एक हस्तलिखित पुस्तक मिली है जिसमें लिखा है कि ईसा हिंदुस्तान आये थे, यहां बौद्ध धर्म सीखा और फिर यरुसलम लौटकर उसका प्रचार करने लगे।

श्रीअरविंद—यह बहुत पुरानी कहानी है और शायद किसी रूसी की ईजाद है। जब मैं इंग्लैंड से लौटा था तभी मैंने सुनी थी।

शिष्य—ईसा के बारे में इतनी परस्पर-विरोधी बातें फैली हुई हैं कि कोई कुछ भी प्रमाणित नहीं कर सकता। कुछ विद्वान् ईसा के होने में भी शंका करते हैं!

श्रीअरविंद—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि ईसा हुए भी थे या नहीं। जिस चीज के साथ उनका नाम जुड़ा है, वह तो है ही।

शिष्य—क्या यह संभव है कि मानवजाति में किसी प्रवर्तक के बिना ही इस तरह का आंदोलन चल पड़ता?

श्रीअरविंद—यह असंभव नहीं है।

शिष्य—क्या काव्य-सृजन भी इस तरह जी सकते हैं?

श्रीअरविंद—ठीक उसी तरह नहीं।

शिष्य—क्या राम सचमुच हुए थे या वे वाल्मीकि की कल्पना मात्र हैं?

श्रीअरविंद—यह मानने के लिये कोई आधार नहीं है कि राम कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

शिष्य—तब फिर विजय का वर्णन आदि?

श्रीअरविंद—क्या तुम यह मानते हो कि एक राजा बंदरों की सेना लेकर लंका पर धावा बोलता है? वाल्मीकि ने इसे परंपरा से या कल्पना से लिया होगा लेकिन उन्होंने ऐसे पात्र बनाये जो भारतीय मिजाज में ठीक रम गये और सारी जाति की चेतना में समाकर आत्मसात् हो गये।

कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि वाल्मीकि रामायण से पहले बहुत-सी रामायणें थीं और वेद में भी राम भगवान् का प्रतीक हैं और सीता पृथ्वी का। यह भी हो सकता है कि वाल्मीकि इसे किसी देवलोक से पृथ्वी पर लाये हों।

हो सकता है कि राम रहे हों पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

शिष्य—और कृष्ण?

श्रीअरविंद—कृष्ण राम से भिन्न स्तर पर हैं। वे ऐतिहासिक व्यक्ति मालूम होते हैं। उनके नाम के साथ जितनी कहानियां जुड़ गयी हैं, हो सकता है कि वे बाद में जोड़ी गयी हों, लेकिन उपनिषद् में भी उनका

उल्लेख है और शायद वे रहे होंगे। वहां उनका उल्लेख देवकी-पुत्र के रूप में है। वहां उन्हें ऐसा व्यक्ति बतलाया गया है जिसे दिव्य ज्ञान हो। वे निश्चय ही कोई ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने काल पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी। तब इसका कोई महत्त्व नहीं कि कृष्ण सचमुच उस रूप में थे या नहीं जिस रूप में बताया जाता है। कृष्ण भौतिक की अपेक्षा बहुत अधिक सच्चे रूप में उपस्थित हैं।

संस्थापक ने जो कहा था उसमें और बाद में उसके नाम के साथ जो कुछ जोड़ा गया है उसे अलग करना बहुत कठिन है। उदाहरण के लिये बौद्ध धर्म के नाम से जो कुछ प्रचलित है उसमें से बहुत कम ही बुद्ध की शिक्षा है। करुणा के सिद्धांत को महायान-संप्रदाय के आचार्य ले आये थे।

शिष्य—जैन लोगों की प्रचलित मान्यता के अनुसार अब श्रीकृष्ण सातवें नरक में है! और अगले युग में वे तीर्थंकरों में से एक होंगे। वे नरक में इसलिये हैं क्योंकि वे इतनी सारी हिंसा के कारण थे?

एक और शिष्य—बंगाल में मुसलमानों ने राम को मुसलमान बना दिया है और उसे प्रमाणित करने के लिये पुस्तकें भी लिखी हैं।

और एक शिष्य—दो ईसाई साधुओं की कहानी है और यह सिद्ध किया जाता है कि वे बुद्ध और आनंद थे।

श्रीअरविंद—धर्म भी अजीब हैं। इन सब बेतुकी बातों की जगह अगर वे धर्म के पीछे जो चीज है उसकी ओर जायें तो ज्यादा उपयोगी और बुद्धिसंगत बात होगी।

शिष्य—प्रायश्चित्त के बारे में आपका क्या विचार है?

श्रीअरविंद—प्रायश्चित्त किसी परिपाटी या सामाजिक विधान के तोड़ने पर दंडस्वरूप होता है। उसका आध्यात्मिक शुद्धि के साथ कोई संबंध नहीं है। यह कानूनी दंड के ज्यादा नजदीक है।

शिष्य—यह प्रायः स्मृतियों द्वारा निर्देशित है।

और एक शिष्य—कहते हैं गंगा-स्नान आदमी को शुद्ध कर देता है। क्या इसमें कुछ सत्य है?

श्रीअरविंद—इस तरह हर चीज से कुछ-न-कुछ लाभ होता है।

शिष्य—रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि जब तुम गंगा-स्नान करने जाते हो तो तुम्हारे पाप नजदीक के पेड़ पर लटकते रहते हैं और तुम्हारे बाहर आते ही तुम पर टूट पड़ते हैं!

श्रीअरविंद—कहते हैं कि कुछ लोग प्रायश्चित्त के बाद शुद्ध और हल्का अनुभव करते हैं लेकिन साधारणतः वे फिर से वही चीज शुरू करने के लिये तैयार रहते हैं! ये सब विचार जैसे काशी-मरण, पाप-विमोचन आदि प्राणिक जगत् के अपसिद्धांत और धोखे हैं।

२-७-१९२६

शिष्य—आपने एक दिन कहा था कि जन्म, वृद्धि, ह्रास और मृत्यु—यह जीवन का विधान है पर यह परम विधान नहीं, प्रकृति का बनाया हुआ खांचा है।

परमाणुओं में अब हमें जीवन का एक और विधान मिलता है, उनमें जन्म-मरण तो होते हैं पर वृद्धि और ह्रास नहीं। वैज्ञानिकों ने रेडियो-एक्टिव तत्त्वों में उनकी मृत्यु का अध्ययन किया है। वैज्ञानिकों के अनुसार परमाणु का जीवन वह अवधि है जो उसके विघटन में लगती है। परमाणुओं के जीवन की अवधि एक-सी नहीं रहती। रेडियम के लिये वह १५०० वर्ष के आस-पास है। देखने लायक बात यह है कि जीवन-अवधि नये बने और पुराने परमाणुओं में एक-सी होती है। व्यावहारिक रूप में उनकी कोई उम्र नहीं होती। उनकी मृत्यु क्षीण होने से होती है।

श्रीअरविंद—उस दिन जब मैं जीवन की बात कर रहा था तो मेरा मतलब वनस्पति और पशु जगत् से था जिनमें जीवन अधिक व्यवस्थित और जटिल है। निश्चय ही परमाणुओं में भी प्राण और मन, यहांतक कि अतिमानस भी है, लेकिन प्रकट और संगठित नहीं है, हम कह सकते हैं कि ऊपरी सतह पर नहीं है।

ये तत्त्व, प्राण और मन उच्चतर स्तर के दबाव के बिना व्यक्त नहीं होते, उस दबाव के कारण ही वे बाहर आते और अभिव्यक्त होते हैं।

यही कारण है कि जब हम अतिमानस को लाते हैं तो ऊपर से दबाव का अनुभव होता है। अतिमानस मन, प्राण और शरीर में प्रवेश करके उन्हें रूपांतरित करना चाहता है।

शिष्य—जैविकी के अनुसार जीवन के लक्षण हैं : १—अंदर से वृद्धि, २—आत्मसात्करण, ३—प्रजनन और ४—थकान।

श्रीअरविंद—प्राण-शक्ति में थकान नहीं होती। थकान केवल प्राण और शरीर के बीच असंतुलन की परिस्थिति है। मन के बारे में भी यही बात है। अगर तुम वैश्व मन और प्राण की ओर खुल सको तो देखोगे कि वे अक्षय हैं।

शिष्य—शरीर और प्राण के बीच संतुलन का स्वभाव क्या है?

श्रीअरविंद—संतुलन के स्वभाव से तुम्हारा क्या मतलब है? भौतिक शरीर एक निश्चित मात्रा में प्राणशक्ति या मनःशक्ति का उपयोग कर सकता है। शरीर उनकी अधिक मात्रा को नहीं सह सकता। इसीलिये आज का सभ्य मनुष्य पुराने जंगलियों की अपेक्षा बहुत ज्यादा नाजुक है।

आत्मसात्करण और प्रजनन आदि शब्दों से ठीक पता नहीं चलता कि जीवन क्या है, ये केवल जीवन के गुण हैं। तुम मानसिक ज्ञान से यह नहीं जान सकते कि जीवन क्या है।

शिष्य—भौतिक स्तर पर जीवन की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां हैं। अगर हम अणुओं, कोषाणुओं और संगठित शरीरों के तीन रूपों को लें तो हम देखते हैं कि हर अवस्था में ज्यादा ऊंची शक्ति की जरूरत होती है। उदाहरण के लिये अणु अपने-आप कोषाणु नहीं बना सकते और उसी तरह कोषाणु शरीर नहीं बना सकते। उनकी वृद्धि अनियमित राशि में होगी।

श्रीअरविंद—यह सच है। सोपान में फर्क है परंतु सचमुच जड़-भौतिक से उच्चतम चेतना तक बीच में कोई व्यवधान नहीं है, चाहे मन से देखने में जीवन की अभिव्यक्ति ऐसी प्रतीत क्यों न हो।

शिष्य—उदाहरण के लिये, वैज्ञानिकों को जड़-भौतिक और जीवित भौतिक में व्यवधान मालूम होता है। उदाहरण के लिये वे हमें बतला सकते हैं कि भोजन के मृत कण—जड़-भौतिक—आमाशय में से गुजरते

हैं और आत्मसात् होते हैं लेकिन वे यह नहीं बता सकते कि ये जीवित कोषाणु कैसे बन जाते हैं। वे यह भी नहीं बता सकते कि स्नायविक उत्तेजना या संवेदन में से विचार कैसे बन जाते हैं।

श्रीअरविंद—तुम यह कैसे कह सकते हो कि अन्न के कण मृत जड़ हैं ? क्योंकि सचमुच ऐसा कोई व्यवधान नहीं है। भौतिक विज्ञान रूपांतर को नहीं समझ सकता। 'क्यों' पूछना बेकार है क्योंकि यह विज्ञान केवल 'कैसे', प्रक्रिया को जान सकता है।

शिष्य—बर्गसां का कहना है कि मानसिक विज्ञान केवल भौतिक-रासायनिक जगत् की बातें जान सकता है, जीवन की समस्याओं को केवल अंतर्भास ही पकड़ सकता है।

श्रीअरविंद—हां, यह सच है। स्वयं मन कुछ नहीं समझता। तुम कहते हो, 'यह कारण है' लेकिन वही तर्क तुम्हें उससे उल्टे निष्कर्ष पर भी पहुंचा सकता है। जब ऐसा मालूम होता है कि आदमी तर्क-बुद्धि के अनुसार काम कर रहा है तब भी वह मानसिक ऊहापोह द्वारा नहीं बल्कि किसी ऊपर की चीज 'अंतर्भास' द्वारा काम कर रहा होता है। एक अवस्था में मन का पदार्थ स्वयं किसी उच्चतर पदार्थ—अंतर्भासात्मक मन—में बदल जाता है। तब पुरानी मानसिक क्रियावली को जारी रखना असंभव होता है। अंतर्भास अतिमानस की छाया या प्रतिमा है। मन के द्वारा संचित पदार्थ उसमें होते जरूर हैं पर वे अंतिम निष्कर्ष में प्रवेश नहीं करते। वे मुख्य निर्णायक तत्त्व नहीं होते।

फिर तुम अधिकाधिक विकसित होते और अतिमानस की उच्चतर और उच्चतम कोटियों को अभिव्यक्त करते हो जहां क्रिया मन से अधिकाधिक मुक्त होती जाती है।

शिष्य—क्या अतिमानस में रहनेवाला व्यक्ति जड़ जगत् पर मानसिक विज्ञान के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के बिना क्रिया कर सकता है ?

श्रीअरविंद—अगर वह पूर्ण हो तो मानसिक ज्ञान की जरूरत नहीं रहती।

शिष्य—मेरा मतलब यह है : एक कांच के टुकड़े को लें। परीक्षण से

पता लगता है कि अच्छे-से-अच्छा कांच बनाने के लिये अमुक अनुपात में अमुक द्रव्यों की जरूरत होती है।

श्रीअरविंद—अगर अतिमानसिक चेतना भौतिक में पूर्ण हो जाये तो फिर परीक्षणों की जरूरत ही न रहेगी।

शिष्य—क्या आपका मतलब यह है कि अतिमानसिक सत्ता बिजली के बारे में पढ़े और सीखे बिना ज्यादा अच्छी बिजली-विशेषज्ञ बन सकती है ?

श्रीअरविंद—क्यों नहीं ? क्या तुम समझते हो कि अतिमानस मन से घटिया है ? तुम्हारे मन में ऐसा संदेह छिपा हुआ है न कि क्या यह संभव हो सकता है ?

शिष्य—जी हां, मन ऐसी बात सुनकर चकरा उठता है।

श्रीअरविंद—वर्तमान काल तक किसी ने इस शक्ति को भौतिक स्तर पर उतारने और उसपर लागू करने की परवाह नहीं की है। मन और प्राण में थोड़ा बहुत प्रयास किया गया था पर भौतिक में नहीं।

पहले तो यह कि योगी भौतिक स्तर के इन प्रश्नों की परवाह न करते थे। दूसरे, उनके पास उनके साथ व्यवहार करने के लिये अधिक सीधे उपाय थे।

शिष्य—क्या सभी अतिमानव ऐसा कर सकेंगे ?

श्रीअरविंद—अतिमानव हैं कितने ? लेकिन जैसा कि मैंने कहा, यह नयी चेतना एक क्रमिक उन्मीलन है। तुम उसे अपने शरीर के अणुओं में पाते हो और कोषाणुओं में एक चेतना है। जब इस शक्ति का अवतरण होता है तो तुम उसे समझ और अनुभव कर सकते हो। लेकिन उसे भौतिक में उतार लाना बहुत कठिन है और जब वह आती भी है तो ऐसे क्षेत्र हैं जहां वह अच्छी तरह संगठित होती है और ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकती है, दूसरे ऐसे क्षेत्र हैं जहां वह लड़खड़ाती और भूल करती है।

पहले वह अपने-आपको ऐसे भागों में विकसित करती है जो तुम्हारे पिछले विकास के कारण अधिक विकसित हैं। और यह विकास क्रमिक होता है चमत्कारिक नहीं। हमें यहांतक संदेह हो सकता है कि क्या आरंभ

करना संभव भी है क्योंकि यह एक ऐसी चीज है जो कभी नहीं की गयी, जिसके लिये भूमि तैयार नहीं है। लेकिन अगर यह स्वीकार कर लें कि यह पृथ्वी चेतना की अधिकाधिक उच्च अभिव्यक्तियों का क्षेत्र है तो यह बात समझ में आती है कि सभी भौतिक चीजें इस उच्चतर शक्ति के अधीन आ जायेंगी।

शिष्य—क्या सभी अतिमानव यह कर सकेंगे ?

श्रीअरविंद—एक बार तुम शुरू कर दो तो वह चलता ही रहेगा। उसे सीमित करने का कोई कारण नहीं। अतीत के प्रयासों ने उसकी तैयारी नहीं की है—हमें यह संदेह भी हो सकता है कि क्या यह भौतिक लोक में आ भी सकता है। उच्चतर शक्ति ही हमारी एक आशा है। हम आरंभ तो कर दें फिर उसकी पूर्ति होती रहेगी।

शिष्य—क्या इसी जीवन में ?

श्रीअरविंद—यह इसपर निर्भर है कि तुम अपने शरीर को कितने समय तक रख सकते हो। बहरहाल, यह पूरी तरह संभव है कि एक बार हम इसे शुरू कर दें तो वह मनुष्य में क्रमशः विकसित होती चली जायेगी।

शिष्य—क्या इसे इसी जीवन में पूर्ण बनाया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—हां, यह इसपर निर्भर है कि तुम अपने शरीर को कितने समय तक रख सकते हो। हम उसे पूर्ण बनाने में भले सफल न हों, उसे भौतिक में ही प्रतिष्ठित कर लें तो अपने समय में अतिमानस की सभी कोटियां खुलती जायेंगी और यह मानने का कोई कारण नहीं कि अतिमानस से भी ऊंचे स्तरों को अभिव्यक्त न कर सकेंगी, हां, सबके अंदर समान रूप में नहीं।

९-७-१९२६

'क' के जैसे मामले में जो अपने-आप प्रेत-बाधा से छुटकारा नहीं पाना चाहता, क्या आत्महत्या द्वारा छुटकारा मिल सकता है ? क्या ऐसे मामले में भी आत्महत्या बुरी है ?

श्रीअरविंद—मुझे नहीं लगता कि आत्महत्या कोई बचने का तरीका है।

साधारणतः आत्महत्या के विचार विरोधी शक्तियों से आते हैं।

शिष्य—विरोधी शक्तियां आत्महत्या के सुझाव क्यों देती हैं ?

श्रीअरविंद—क्योंकि वे भोग से छक जाती हैं और वे या तो शरीर को यांत्रिक पागलपन में छोड़ जाती हैं या उसे नष्ट कर देती हैं।

शिष्य—'क' के भावी जीवन पर इस तरह की प्रेत-बाधा का क्या असर होगा ? क्या उसके अंदर ऐसी कमजोरी बनी रहेगी जो उसे इसी तरह के प्रभावों के आधीन बनाये रखे ?

श्रीअरविंद—यह कहना बहुत कठिन है। मेरा ख्याल है कि यह इसपर निर्भर है कि चैत्य सत्ता अपने-आपको क्रिया से कितनी दूर खींच लेती है। अगर चैत्य सत्ता इस प्राणिक व्यक्तित्व को पूरी तरह अस्वीकार कर सके जो इस पतन का कारण है तो प्राणिक व्यक्तित्व अपने भाग्य पर छोड़ दिया जायेगा, वह या तो विघटित हो जायेगा या पशु-जन्म में चला जायेगा या और भी नीचे जा सकता है या आसुरी जगत् में मिल सकता है। लेकिन वह स्वयं अपना भाग न रहेगा और तब चैत्य सत्ता को अपने लिये प्राणिक और भौतिक सत्ताओं का निर्माण करना होगा और इसमें कई जन्म लग सकते हैं। अगर वह इस तरह भूत-बाधाग्रस्त न रहे, जैसा कि अब है और अगर वह इस जीवन में सामान्य मनुष्य की तरह जीवन बिता सके तो उसके पहले के कर्म उसके भावी विकास का आधार बन सकते हैं। लेकिन अभी तो उसने जो कुछ खो दिया है उसे वापिस पाना है। लेकिन मान लो कि उसका चैत्य इस व्यक्तित्व को उठाकर फेंक देने में समर्थ न हो तो हो सकता है कि वह अनेक जन्मों तक दोहरी गति चलाता रहे और न जाने यह चीज उसे कहां ले जाये।

उसके आध्यात्मिक विकास के लिये यह अच्छा ही है कि उसके जीवन में यह धमाका आया क्योंकि अगर वह ठीक बना रहता और इस शक्ति को अपने अंदर काम करने देता और स्वयं उसमें 'ख' की तरह से रस लेता या एक बड़ा स्वामी बन जाता जिसके इर्द-गिर्द चेले चांटे रहते तो उसको इसमें से निकलने का बहुत कम अवसर रहता।

शिष्य—क्या वह इसी जन्म में इस व्यक्तित्व को त्याग सकेगा ?

श्रीअरविंद—यह तो स्पष्ट है कि वह उसे इस जन्म में नहीं त्याग सकता। यह उसकी अंतरात्मा की बहुत गंभीर हार है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यक्तित्व उसकी प्रकृति के संघटन का भाग बन गया है और वह उससे छुटकारा नहीं पा सकता।

लेकिन हो सकता है कि अगले जीवन में चैत्य पुरुष आज से अच्छे प्राणिक और भौतिक का पुनर्निर्माण करके खोया हुआ मैदान फिर से पा ले।

१०-७-१९२६

शिष्य—'ग', जो पागल हो गया है, कहता है, "मैं कब्रिस्तान के पास एक कमरा लेकर रहूंगा। अगर श्रीअरविंद कभी मेरे लिये करुणा का अनुभव करें तो मुझे सूचना दे देना।"

श्रीअरविंद—करुणा का नाप दूरी से है। वह यहां से जितनी दूर रहेगा उतनी ही अधिक करुणा पायेगा। (हंसी)

शिष्य—जैसे योग में बाधक विरोधी शक्तियां हैं उसी तरह क्या ऐसी शक्तियां भी हैं जो योग में सहायता करती हों? उनका स्वभाव कैसा होता है?

श्रीअरविंद—यह इसपर निर्भर है कि तुम कैसा योग कर रहे हो।

शिष्य—मेरा मतलब यह है कि क्या ऐसी शक्तियां है जो हमारे योग में सहायता करती हों?

श्रीअरविंद—हां, ऐसी शक्तियां हैं जो हमारी सहायता करती हैं, सीधी तरह नहीं, पीछे से। तुम कह सकते हो कि वे देव हैं जो पीछे से सहायता करते हैं और उस उच्चतर शक्ति के आधीन कार्य करते हैं जिसे हम पुकार रहे हैं। हम अपने योग में उनकी पूरी-पूरी मदद नहीं ले सकते क्योंकि यद्यपि वे बहुत सहायता कर सकते हैं फिर भी उनकी सहायता किसी शर्त के साथ होती है। वे ऐसी सत्ताएं हैं जिन्हें हमारे प्रयास के साथ सहानुभूति होती है क्योंकि उन्हें भी हमारे योग से लाभ होगा। वे उसी अनुपात में सहायता करेंगी जिस अनुपात में उन्हें लाभ होगा और तुम उनकी शर्तें पूरी करोगे।

यह भी हो सकता है कि जब तुम उनके परे जाने की कोशिश करो तो वे तुम्हारे मार्ग में बाधक हों। उदाहरण के लिये तुम उनकी पूजा करो तो वे तुम्हारी मदद करेंगे। इस योग में हम उच्चतम सत्य के लिये अभीप्सा करते हैं और हम अपनी सारी-की-सारी पूजा उस सत्य को छोड़कर किसी और को नहीं दे सकते। हमें पूरी तरह से सत्य और सत्य की शक्ति पर सहायता के लिये निर्भर रहना चाहिये।

शिष्य—क्या ऐसी शक्तियां हैं जो सभी लोकों में सहायता करती हैं ?

श्रीअरविंद—विरोधी आक्रमण सीधे होते हैं इसलिये तुम उन्हें ज्यादा अनुभव करते हो लेकिन सहायता पीछे से आती है।

शिष्य—क्या ये शक्तियां जो सहायता देती हैं वह मानसिक होती हैं ?

श्रीअरविंद—हां, साधारणतः यह सहायता मानसिक और प्राणिक स्तरों से होती है और हम उसे नहीं ले सकते क्योंकि वह हमेशा शर्त के साथ होती है।

हां, मैं माताजी को 'न्यू इंडिया' में छपी उस खबर के बारे में बतला रहा था कि एक ढाई वर्ष के बच्चे में पूर्व जन्म की स्मृति जागी है। उन्होंने इसी तरह की एक प्रामाणिक घटना सुनायी।

यह उनके परिवार की घटना है। उनका एक भाई है जो सुसंस्कृत और बुद्धिमान् है। वह पुनर्जन्म या इस तरह की बातों को नहीं मानता। उनकी एक लड़की थी, अभी वह तीन या चार वर्ष की ही होगी, एक दिन उसके पिता उसे नहला रहे थे कि उसने आंखें बंद कर लीं और एक अजीब से स्वर में गाना शुरू कर दिया। बाप ने पूछा, यह कहां की धुन है ? लड़की ने आंखें अधखुली रखते हुए कहा, जब मैं पुरुस (Purus) में गडेरिन थी तो यही धुन गाया करती थी।

परिवार में कभी किसी ने उसके आगे पुरुस की बात न की थी। उस घर में केवल मां-बाप बात कर सकते थे, घर का नौकर तो मूढ़ था। चीज इस घटना के साथ ही समाप्त हो गयी, आगे नहीं चली। लेकिन यह तो स्पष्ट हो गया कि लड़की के अंदर यह स्मृति जागी थी। बड़े बच्चों में यह कल्पना भी हो सकती है।

इस घटना से इस बात की पुष्टि होती है कि बच्चे अपने पूर्व जन्म को याद रख सकते हैं, हां, यह जरूरी है कि घटना प्रामाणिक हो।

६-८-१९२६

भाव और आवेगों के बारे में बात चली—

शिष्य—उदाहरण के लिये देशप्रेम को लीजिये। बिना पर्याप्त मानसिक विकास या विस्तार के हम देशप्रेम का अनुभव नहीं कर सकते।

श्रीअरविंद—मैं इसे नहीं मानता। कुत्तों में भी एक तरह का देशप्रेम होता है। मनुष्य ने प्रकृति के सभी पाशविक आवेगों के चारों ओर बहुत सारी चीजें बुन डाली हैं। साधारणतः मनुष्य जिसे देशप्रेम कहते हैं वह झुंड की भावना से बढ़कर कुछ नहीं है। मधुमक्खियों और चींटियों में भी देशप्रेम होता है। वे भी अपने झुंड की रक्षा के लिये युद्ध करती हैं, वे भी समुदाय को बचाने के लिये व्यक्ति की बलि चढ़ाती हैं।

शिष्य—जी, लेकिन वे यह सब लेक्चर झाड़े बिना करती हैं। *(हंसी)*

श्रीअरविंद—हां, जोर-जोर से यह घोषणा किये बिना कि वे सबसे ऊंची हैं क्योंकि वे यह सब करती हैं। यह वही पाशविक वृत्ति है। मनुष्य उसे मनोमय सत्ता तक उठा देता है और वहां उसके चारों ओर सब तरह की चीजें, आवेग, आदर्श, विचार आदि बुनता है और अपनी प्राणिक पाशविक-वृत्ति का औचित्य सिद्ध करता है।

शिष्य—गीता ने कहा है कि विषयों के बारे में सोचने से उनके लिये आसक्ति पैदा होती है। इससे यह स्पष्ट है कि आसक्ति सोचने के कारण होती है।

श्रीअरविंद—मुझे नहीं लगता कि अगर ठीक तरह से देखा जाये तो गीता के इस श्लोक में आवेग के मूल के बारे में कहा गया है। वहां केवल यह बताने की कोशिश की गयी है कि जब मन किसी चीज के पीछे दौड़ता या उसपर टिक जाता है तो उसके साथ आसक्ति पैदा हो जाती है। इसका यह मतलब नहीं है कि हमेशा आवेगों से पहले विचार आते हैं।

शिष्य—कभी-कभी प्राणिक कामना और विचार के बीच एक संबंध बन जाता है।

श्रीअरविंद—यह तो हमेशा होता है। उदाहरण के लिये कुछ कामनाएं हैं जो अमुक विचार-गतियों के साथ-साथ चलती हैं, अतः जब कोई विचार-गति होती है तो वह साथ-ही-साथ अपने अनुरूप आवेग या भाव को भी जगाती है, लेकिन वह तो मेल के कारण है। इसका यह मतलब नहीं कि विचार भावों के अंदर गति पैदा करता है।

शिष्य—जब मैं अमुक घटनाओं के बारे में सोचता हूं तो फिर से उन आवेगों को पैदा कर सकता हूं जिन्हें मैंने अतीत में अनुभव किया था।

श्रीअरविंद—यह एक और ही चीज है। यह स्मृति द्वारा वापिस बुलाना है। मैं याद करके शरीर में बीमारी को भी वापिस ला सकता हूं। इसका यह मतलब नहीं है कि याद करना बीमारी के लिये उत्तरदायी है।

जैसा कि मैंने कहा, अधिकतर चीजें, जिनमें मनुष्य आनंद लेता है, वे पशुओं की चीजों से बहुत भिन्न नहीं हैं। हम पाशविक प्रकृति की बहुत-सी चीजें दाय के रूप में अपने साथ जैसी-की-तैसी लाये हैं। जिन्हें तुम आवेग कहते हो वे सचमुच अपने मूल में प्राणिक हैं और जैसा कि मैं कह चुका हूं, मनुष्य ने बस उनके चारों ओर एक जाल बुन दिया है। जानवरों में वही प्राणिक भाव, मनोभाव, यहांतक कि विचार भी होते हैं लेकिन वे मनुष्य में एक भिन्न तरीके से काम करते हैं क्योंकि मनुष्य मानसिक सत्ता है। मनुष्य इन सब चीजों को ऊपर उठाकर उसकी रचना करता है जिसे मैं 'प्राणिक मन' कहता हूं या जिन्हें तुम संवेग कहते हो। मेरे वर्गीकरण के अनुसार संवेग या मनोभाव मन का प्राणिक भाग है। मनुष्य ने बस पशु के प्राणिक आवेगों को उठाकर उन्हें मानसिक कर देने की कोशिश की है। इसका परिणाम वह है जिसे मैं जाल बुनना कहता हूं; अतः ये सब उसकी तर्क-बुद्धि को तर्क-संगत मालूम होते हैं।

शिष्य—मैंने यह प्रश्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक में फर्क समझने के लिये किया था।

श्रीअरविंद—मैं 'मानसिक प्राण' और 'यथातथ्य प्राण' में फर्क करता हूं।

शिष्य—यथातथ्य प्राण क्या है ?

श्रीअरविंद—प्राण सत्ता वह है जिसका जीवन के साथ सीधा संबंध है। तुम उसे जीवनी शक्ति कह सकते हो और जीवनी शक्ति के साथ संबंध रखनेवाली सभी गतियां प्राणिक सत्ता की हैं। प्राणिक सत्ता की मूलभूत क्रिया यह है कि वह कामना का रूप ले लेती है। उदाहरण के लिये वस्तुओं, अधिकार, लोभ, महत्त्वाकांक्षा या यूं कहें सभी षड् रिपु काम, क्रोध, मोह, भय और मत्सर प्राणिक क्षेत्र के हैं।

प्राणिक गतिविधि के इस गलत रूप के पीछे एक सत्य होता है जो अज्ञान के कारण यह गलत रूप ले लेता है। वास्तव में प्राणिक सत्ता एक यंत्र है और जीव के यंत्र के रूप में ही उसका उपयोग होना चाहिये, वह जीवन के संपादन का एक साधन है। अपने-आपको कार्यान्वित करने के लिये वह कामना का रूप ले लेती है परंतु उच्चतर ज्ञान में वह शुद्ध इच्छा-शक्ति बन जाती है यानी कामना आदि के बिना संपादन करने की शक्ति।

मनुष्य इन प्राणिक गतिविधियों को, जो समान रूप से पशु जगत् में भी हैं, मन तक उठा देता है और बस। वहां वह यह सोच कर अपने-आपको भरमाता है कि एक बार वह किसी भाव को प्राणिक गति के साथ जोड़ दे तो वह शुद्ध हो जाती है और जब मन उसे तर्क-संगत रूप में समझा सकता है तो मनुष्य इस प्राणिक लीला के साथ चलते चले जाने के लिये औचित्य पा लेता है। वस्तुतः इसी तरीके से इन प्राणिक शक्तियों ने मनुष्य पर अपनी पकड़ बनाये रखी है। उदाहरण के लिये उस चीज को लो जिसे लोग साधारणतः प्रेम कहते हैं। मूलतः यह एक प्राण-आवेग है जिसे हम काम-आवेग कह सकते हैं। यह प्रकृति में सब जगह है। मनुष्य इसमें भाव की एक गति मिला देता है और उसे प्रेम का नाम दे देता है और सोचता है बस अब सब कुछ ठीक है।

शिष्य—भौतिक क्या है?

श्रीअरविंद—भौतिक से तुम क्या समझते हो?

शिष्य—भौतिक से हमारा मतलब होता है मन और जीवनहीन वस्तुएं।

श्रीअरविंद—यह बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि तुम्हारा शरीर भौतिक है परंतु उसमें प्राण भी है और मन भी। स्वयं भौतिक के अंदर प्राण और मन

होता है, लेकिन होता है अंतर्लीन। लेकिन अगर तुम भौतिक स्तर पर सचेतन हो सको तो देखोगे कि शरीर के कोषाणुओं तक में प्राण और मन है। हां, हम भौतिक और मानसिक स्तर पर जिस प्राण और मन को देखते हैं वह उनसे भिन्न है जो प्राणिक या मानसिक स्तर पर है। लेकिन तुम इससे इंकार नहीं कर सकते कि उसमें मन है। वही शरीर की गतियों को इतने ठीक तरीके से चलाता है। भौतिक मन ऐसा मन है जो चीजों के केवल भौतिक और जड़ पहलुओं को देखता है और अन्य पहलुओं को देखने से इंकार करता है।

शिष्य—यह तो सामान्य मन है।

श्रीअरविंद—अधिकतर मन में इसके सिवा कुछ नहीं होता।

शिष्य—अपने-आपको मन से अतिमानस तक उठाने के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

श्रीअरविंद—करने लायक पहली चीज यह है कि अपनी सत्ता की प्रकृति को जानो तब सत्य की प्राप्ति के लिये मन से ऊपर किसी चीज की ओर मुड़ो। मन उसका थोड़ा-सा ज्ञान दे सकता है, पूर्ण ज्ञान नहीं और न ही वह रूपांतर को कार्यान्वित कर सकता है।

शिष्य—आपने अभी कहा कि मनुष्य के अधिकांश में पाशविक प्रकृति है। यूरोपीय लोग इसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। वे मानते हैं कि मानव जाति की हर चीज की जड़ में प्राण है। वे मानों उसे पूजते हैं।

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब क्या है ? मनुष्य पशु है या मनुष्य में पशु है ?

शिष्य—ये विचारक मनुष्य में किसी भी उच्चतर चीज के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। वे लगभग यूं कहते हैं कि चूंकि मनुष्य पशु है अतः उसके लिये अच्छा यह है कि वह सचेतन और कार्यक्षम पशु हो। बस उसे कार्यक्षम होने की कोशिश करनी चाहिये और कुछ नहीं। बर्नार्ड शा में हम इस बात पर आग्रह देखते हैं।

श्रीअरविंद—लेकिन शा यह नहीं कहता कि मनुष्य में पशु से ऊंची कोई चीज नहीं है ! शा कुशाग्र-बुद्धि विचारक है। वह मनुष्य के बड़प्पन

के विचार में फंसने से इंकार करता है। वह कहता है कि मनुष्य को अधिक ऊंचा उठना चाहिये।

लेकिन ज्यादा ऊंचा उठने का विचार रखना एक बात है और यह मानना अलग बात है कि मनुष्य बहुत अधिक विकसित प्राणी है। सत्य की खोज की प्रारंभिक आवश्यकताओं में से एक है आलोचक मन, कह सकते हैं कि एक सनकी मन जो मुखौटे को फाड़ फेंके और प्रचलित विचारों और मतों को स्वीकार करने से इंकार करे। यह एक तरह का विलायक है। मनुष्य के अंदर इतना साहस होना चाहिये कि किसी धोखाधड़ी के बिना नंगे सत्य को देख सके। शा के अंदर एक बड़ी हदतक ऐसा आलोचक मन है। आनातोल फ्रांस के बारे में भी यही बात है।

सत्य को पाने के लिये जिस दूसरी चीज की जरूरत है वह है, अभीतक जो प्राप्त हुआ है उससे ज्यादा ऊंचे सत्य को पाने की अभीप्सा करना। मनुष्य को सभी आदर्शों, सिद्धांतों और सत्यों का अवलोकन करना चाहिये और देखना चाहिये कि कौन-से संभव हैं और कौन-सा आदर्श किस हदतक प्राप्त किया जा सकता है और सबसे बढ़कर यह कि उसे यह जानना चाहिये कि उस आदर्श की परिपूर्ति के लिये किन अवस्थाओं की जरूरत है।

शिष्य—अगर अतिमानसिक शक्ति काम कर रही है तो 'क' जैसे साधक के मार्ग में इतनी कठिनाइयां क्यों आती हैं ?

श्रीअरविंद—ऐसी विरोधी शक्तियां हैं जो इस उच्चतर शक्ति का अवतरण नहीं चाहतीं। तुम जितनी प्रगति करो वे उतनी ही ज्यादा क्रुद्ध होती हैं और तुमपर आक्रमण करने की कोशिश करती हैं। दूसरी बात यह है कि आरंभ में स्वयं उच्चतम अतिमानसिक शक्ति काम नहीं कर रही। वह मन पर दबाव डालती है और उच्चतर मन की गति द्वारा तुम्हें अज्ञान और अपूर्णताएं दिखलाती है।

शिष्य—हम इन कठिनाइयों से कैसे पिंड छुड़ायें ?

श्रीअरविंद—सबसे पहले तुम्हें स्थिर रहना चाहिये, यानी अपने स्वभाव के अंदर पूर्ण समता स्थापित करो और इन चीजों से क्षुब्ध न हो। जब

कभी तुम्हारे अंदर अज्ञान और अपूर्णता की कोई गति आये तो तुम्हें सावधानी से देखना होगा कि वह आती कहां से है, तुम्हारी प्रकृति के बाहर से या भीतर से। तब तुम्हें उस उच्चतर ज्ञान को सौंप देना चाहिये। तुम्हें प्रकाश मिलेगा परंतु शुरू में वह तुम्हारी मानसिक गतिविधियों से मिला रहेगा। उस ज्ञान के प्रकाश में तुम्हें, जो मिथ्या हो उसे अस्वीकार करना होगा। केवल उच्चतम गतिविधि को स्वीकार करो। तुम जैसे-जैसे प्रगति करोगे वैसे-वैसे उच्चतर प्रकाश और उच्चतर शक्ति को पाते चलोगे जो इन शक्तियों का सामना करने और उनपर काबू करने का तरीका बतायेंगी।

अंततः जब तुम्हें उच्चतम गति प्राप्त हो जाये तो तुम इतने मजबूत हो जाते हो कि कठिनाइयां तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। हां, तब तुम्हें उच्चतम सुरक्षा दी जाती है। लेकिन उस सुरक्षा को पाने की शर्तें ये हैं कि तुम उच्चतर शक्ति की ओर हमेशा खुले रहो। दूसरे, तुम्हारे अंदर दृढ़ निश्चय और सचाई हो। और तीसरे, उच्चतम शक्ति की सुरक्षा पर तुम्हें पूर्ण विश्वास हो।

शिष्य—क्या ये कठिनाइयां परीक्षा के रूप में आती हैं ?

श्रीअरविंद—हां, एक उच्चतर दृष्टि से तुम उन्हें अपने योग में प्रगति की कसौटी के रूप में ले सकते हो, ये तुम्हें तुम्हारी कमजोरियां दिखाती हैं और अगर तुम उन्हें उचित मनोभाव में ले सको तो तुम उनसे लाभ उठा सकते हो।

शिष्य—मान लीजिये कि कोई योगी इन कठिनाइयों को जीत लेता है तो क्या यह उसके लिये वैश्व विजय होगी ?

श्रीअरविंद—सबसे पहले तुम्हें उन्हें अपने अंदर जीतना होगा, फिर अपने इर्द-गिर्द यानी उन लोगों में जो तुम्हारे संपर्क में आते हैं और अंत में, भगवान् की स्वीकृति के साथ तुम घटनाओं पर भी प्रभाव डाल सकते हो।

इसका कोई कारण नहीं कि योगी अपनी कुरसी पर बैठा-बैठा रूस और अमरीका की घटनाओं पर प्रभाव न डाल सके। जो लोग क्षेत्र में काम कर रहे हैं उनके पीछे अपनी शक्ति लगाकर वह घटनाओं का मार्ग भी बदल सकता है।

शिष्य—क्या योगी जगत्-शक्तियों पर क्रिया करता है ?

श्रीअरविंद—हां, अपना प्रभाव उनपर डालकर वह उनके मार्ग को बदल सकता है।

शिष्य—क्या जगत्-शक्तियों को सत्य का ज्ञान होता है ?

श्रीअरविंद—नहीं, वे केवल शक्तियां होती हैं और अपने-आपको चरितार्थ करना चाहती हैं। यह कहने का एक तरीका है जब हम कहते हैं कि योगी की शक्ति काम कर रही है। सारी शक्ति भगवान् की शक्ति है और मनुष्य तो केवल एक बिंदु होता है। वह सारे समय यह जानता है कि काम भगवान् की शक्ति कर रही है।

वह शक्ति का उपयोग अहंकार के साथ भी कर सकता है और अनुपात में अधिक प्रभाव डाल सकता है। चूंकि वह अहंकार या कामना के कारण सीमित और अपूर्ण होता है इसलिये क्षमता भी सीमित और अपूर्ण रहती है।

१३-८-१९२६

शिष्य—मैं सत्ता के विभिन्न मनोवैज्ञानिक भागों में फर्क जानना चाहता हूं, जैसे

१—मानसिक में मुख्य मानसिक, २—मानसिक प्राण, ३—मानसिक भौतिक। प्राण के १—प्राणिक मन, २—मुख्य प्राण, ३—प्राणिक-भौतिक और भौतिक में १—भौतिक मन, २—भौतिक प्राण और ३—मुख्य भौतिक।

श्रीअरविंद—इस भेद को भाषा में रखना कठिन है, अगर रखा भी जाये तो वह अपर्याप्त और आंशिक होगा। अगर तुम मनुष्य के मानसिक भाग को लो तो देखोगे कि वहां एक भाग है जिसे शुद्ध मानसिक भाग कहा जा सकता है, जो सिर के ऊपर ऊंचाई पर रहता है और मस्तिष्क द्वारा भौतिक जीवन के साथ आदान-प्रदान करता है। यह विचारशील मन है। इसका मुख्य संबंध होता है तर्क-वितर्क, मानसिक रूपों की रचना और मानसिक इच्छा की क्रियावली।

फिर मानसिक भाव और संवेदन हैं जो सचमुच मानसिक तो नहीं हैं, वे प्राण से उठकर मन में जा पहुंचते हैं और मानसिक रूप धारण कर लेते हैं, मानसिक भाव और मानसिक संवेदन बन जाते हैं—इसे मैं मानसिक प्राण कहता हूं।

कुछ लोगों के अनुसार यह शुद्ध रूप से प्राण है जो सिर से लेकर वाणी के केंद्र (गरदन) तक मानसिक सत्ता होती है।

शिष्य—बुद्धि क्या है ?

श्रीअरविंद—बुद्धि वह है जिसे मैं शुद्ध मन कहता हूं। उसमें प्रज्ञा और इच्छाशक्ति मिली होती है। वह चिंतन और मनन की क्षमता है, वह तर्क करती है। वह ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उठती है जैसे 'सत्य क्या है', 'मुझे क्या करना चाहिये', 'मुझे कैसे करना चाहिये ?' जब यह शुद्ध मानसिक क्षमता विकसित होती है तो हम उसमें अंतर्दर्शन और मानसिक दृष्टि की कुछ शक्ति भी पाते हैं। वह रूप और वाणी की रचना करती है।

शिष्य—वाणी का केंद्र कहां है ?

श्रीअरविंद—वाणी का केंद्र कंठ के नीचे है और सचमुच वाणी मानसिक क्षमता है। वह विचार और मनन के परिणामों को वाणी के माध्यम से प्रकट करने की कोशिश करती है। यह विचार की अभिव्यक्ति के लिये है परंतु भाव और प्राणिक सत्ता भी अपने-आपको प्रकट करने के लिये इसका उपयोग करते हैं। पहले वे निम्न भागों में से ऊपर जाते और फिर वाणी द्वारा अपने-आपको प्रकट करते हैं। लेकिन तत्त्वतः वाणी मनःशक्ति है।

शिष्य—मानस क्या है, बुद्धि और मानस में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद—सामान्यतः जब हम मानस शब्द का उपयोग करते हैं तो उसका अर्थ होता है मन, यानी सारी मानसिक क्रियावली—चिंतन, भाव, मानसिक संवेदन सब इसमें आ जाते हैं। लेकिन जब हम दर्शन में मानस का उपयोग करते हैं तो उसका मतलब होता है ऐंद्रिय-मन। इसका स्थान हृदय के पास होता है, जब कभी कुछ लोगों में पूर्वाभास जागते हैं तो ये

मानस में ही आते हैं—ऐंद्रिय-मन में—इसीलिये उपनिषद् में इसे छठी इंद्रिय कहा गया है।

साधारणतः वेदांत में बुद्धि का अर्थ होता है समझ के साथ इच्छा-शक्ति। वह सत्य को खोजती या खोजने की कोशिश करती है और फिर उसके अनुसार कार्य करने का निश्चय करती है।

और फिर है मानसिक-भौतिक। यह भौतिक मन नहीं है। यह वह चीज नहीं है जो जड़ के पीछे रहती और उसे सहारा देती है। यह शुद्ध विवेचन की किसी क्रिया के बिना अपने-आपको दोहराती रहनेवाली अभ्यासगत मानसिक गति है। उसमें अगर कोई विवेचन होता भी है तो यांत्रिक। वह अपने ही चक्कर में घूमती चलती जाती है और मन के अन्य भाग उसके बारे में सचेतन नहीं होते। वह अपने पुराने भावों, संस्कारों को यंत्र की तरह दोहराती रहती है। उसमें न तो प्राणिक आवेग और न स्वयं मन की कोई सृजनात्मक क्रिया होती है।

शिष्य—मेरा ख्याल है कि मानसिक, प्राणिक और शारीरिक स्तर पर अतिमानस का कोई तत्त्व रहता होगा। मानसिक सत्ता में कौन-सी चीज उससे मिलती-जुलती है?

श्रीअरविंद—मानसिक स्तर पर अतिमानस अंतर्भास है। यह शुद्ध अतिमानस नहीं, उसका मानसिक रूप है।

उसके बाद नाभि और उसके नीचे और कुछ लोगों के मतानुसार हृदय से नाभि तक प्राणिक सत्ता है। अपने निजी प्रकृति में यह प्राण-गति या जीवन-शक्ति है जो अपने-आपको जीवन में कार्यान्वित करना चाहती है। उसका सबसे अनगढ़, अपरिष्कृत रूप है कामना। वस्तुतः यह शक्ति है जो अधिकार करना और भोग करना चाहती है। वह वस्तुओं को पकड़कर उनपर अपनी छाप लगाना चाहती है। यह अधिकार तथा भोग के लिये वस्तुओं को पकड़ती है। यही मनुष्य के अंदर महत्त्वाकांक्षा, नारी के लिये कामना, धन और शक्ति के लिये कामना, कामना के सभी अहंकारात्मक रूप पैदा करती है। प्रकृति में जीवन के लिये यह अनगढ़ रूप बहुत उपयोगी है।

मनुष्य के अंदर प्राणिक सत्ता ही यह करना चाहती है और वह करना चाहती है ! वह हमेशा अपने-आपको बाहर उछालने में व्यस्त रहती है। प्राणिक प्रकृति का यह तात्त्विक रूप है। उसके पीछे होता है प्राणिक मन। वह एक विचार का रूप लेता है परंतु यह मानसिक विचार के रूप से भिन्न होता है। यह कोई ऐसी चीज है जो मन से न निकल कर सीधी प्राण से निकलती है, वह प्राणिक गतिविधियों के साथ रहती, उन्हें जानती और वाणी तथा मानसिक रूपों में प्रकट करती है। वह तर्क नहीं करती। वह भी शुद्ध मन की तरह सोचती और योजना बनाती है लेकिन वह एक और तरीके से सोचती और योजना बनाती है। यह एक ऐसा मन है जो अलग खड़ा रहता और यह व्यवस्था करता है कि आवेगों को कैसे चरितार्थ करे।

शिष्य—लेकिन तब यह सच्चा नहीं मिथ्या विचार होगा।

श्रीअरविंद—वह मिथ्या नहीं होता, केवल मानसिक विचार न होकर यह प्राणिक विचार है। उदाहरण के लिये जब मसोलिनी कहता है 'सूर्यालोक में इटली का अपना स्थान होगा' तो यह मानसिक नहीं प्राणिक विचार है।

शिष्य—क्या यह मनोभाव नहीं है ?

श्रीअरविंद—यह मूलतः मनोभाव नहीं है। यह सीधा उसके प्राणिक अहंकार से आनेवाला विचार है। फिर उसके साथ उसका देश-प्रेम का भाव भी हो सकता है। वह अपने तर्क से इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिये भी कह सकता है। वह अपनी बुद्धि से कह सकता है, "मैंने यह बात कही है, अब तुम इसके लिये कोई युक्ति ढूंढ़ निकालो और यह भी बताओ कि यह क्यों सत्य है।"

शिष्य—तब फिर क्रियाशील मन क्या है ?

श्रीअरविंद—क्रियाशील मन है इच्छा-शक्ति, जब कि प्राणिक मन है कामना-मन। वह बिना किसी तर्क के प्राणिक ललक की कामना करता है। जैसा कि मैंने कहा, जब मन कार्य करता है तो पहले वह इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करता है, "सत्य क्या है और मुझे क्या करना चाहिये ?" वह इसीपर रुक नहीं जाता। वह निश्चय भी करता है कि "मैं

इसे कैसे करूं ?" वह इच्छा का भाग है। वह योजना भी बनाता और व्यवस्थित भी करता है परंतु एक भिन्न तरीके से। क्रियाशील मन वह इच्छा-शक्ति है जो बुद्धि के निर्णयों को कार्यान्वित करने की कोशिश करती है।

फिर है भौतिक-प्राण यानी प्राण में भौतिक भाग। भौतिक स्तर पर प्राणिक आवेगों को चरितार्थ करने के लिये यह जरूरी है। सामान्यतः यह गुजरती हुई घटनाओं और अस्थायी गतियों से संबंध रखता है। यह छोटी-छोटी बातों पर क्षुब्ध हो जाता है, आसानी से परेशान हो जाता है। यह बड़ी जल्दी आनंद-विभोर हो उठता है, उसी तरह बड़ी जल्दी कुंठित भी हो जाता है। यह वह बेचैन हिस्सा है जो गुजरती हुई चीजों से संबंध रखता है तथा औरों को भी बेचैन करता है। प्राण में आवश्यक प्रेरणा हो सकती है पर यदि यह भौतिक भाग तैयार न हो तो उसे इस भूमि पर उतारा नहीं जा सकता।

इन सबसे मिलकर प्राण बनता है। सत्ता के पूर्ण विकास के लिये यह बहुत जरूरी है। वस्तुतः प्राण ही मन को उसकी ऊर्ध्वमुखी गति में सहारा देता है—कम-से-कम उसे देना तो चाहिये क्योंकि उसके बिना मन अपने-आपको जीवन में कार्यान्वित न कर सकेगा। वह केवल आदर्श, भाव और सिद्धांत रह जायेगा।

शिष्य—इसका मतलब यह हुआ कि प्राण को मानसिक भावों के साथ सहमत होना चाहिये।

श्रीअरविंद—हां, अन्यथा कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

शिष्य—लेकिन तब क्या मन प्राण-शक्ति को खींचता है या प्राण मानसिक ऊर्जा का आह्वान करता है ?

श्रीअरविंद—यह इसपर निर्भर है कि कौन क्षेत्र में पहले आता है। अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग होगा, किसी में मन पहले किसी में प्राण पहले।

शिष्य—अगर प्राण मन को सहारा दे तो मन की विजय की पूरी संभावना रहेगी ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। हो सकता है कि प्राण राजी हो जाये और मानसिक सत्ता की सहायता करने को तैयार हो परंतु उसमें इतनी काफी शक्ति न हो कि विचारों को जीवन में क्रियान्वित कर सके।

शिष्य—प्राणमय सत्ता में अतिमानसिक तत्त्व कौन-सा है ?

श्रीअरविंद—तुम कह सकते हो कि प्राण में अतिमानसिक तत्त्व है, प्राणिक अंतर्भास, प्रेरित आवेग और अंतःप्रेरणाएं। यह एक ऐसी चीज है जो ऊपर से सीधी प्राणिक सता में आती है, यह जरूरी नहीं है कि वह मन को छूती हुई आये। वही इस बारे में सच्चे अंतर्भास देती है कि क्या करना है। ऐसे लोग हैं, और यह जरूरी नहीं कि वे योगी हों, जो चिंतन, मनन के बिना ही एकदम जान लेते हैं कि कौन-सी चीज उचित है जिसे करना चाहिये।

सभी प्रतिभाशाली व्यक्तियों में यह क्षमता होती है—एक प्रकार का अर्द्ध अतिमानसभावापन्न प्राण-पुरुष, जो हमेशा उनसे ठीक काम करवाता है, ऐसा काम जिसे करना चाहिये। वे अपने कामों में भूल नहीं करते। साधारणतः वे तर्क नहीं करते। वास्तव में वे तर्क नहीं कर सकते, कारण नहीं बता सकते फिर भी हमेशा ठीक चीज करते हैं और सफल होते हैं।

जैसा कि मैंने कहा, प्राण हमारी सत्ता का बहुत जरूरी अंग है। जब वह बदल जाता है तो उच्चतर शक्ति के हाथ में यंत्र बन जाता है। तब कामना नहीं, उच्चतर शक्ति उसके द्वारा काम करती है।

ऐसा कर सकने के लिये उसे अपने-आपको मन से ऊपर के सत्य की ओर खोलना चाहिये।

शिष्य—प्राण क्या है ?

श्रीअरविंद—प्राचीन परिभाषा के अनुसार प्राण चेतना का आधारभूत पदार्थ है। यहां सत्ता की सभी गतिविधियों के पीछे वही होता है। वह चित्त से भिन्न होता है जो उच्चतर चेतना है। उदाहरण के लिये प्राण-आकाश और चित्त-आकाश है।

और फिर भौतिक सत्ता है, उसमें भौतिक मन होता है जो अधिकतर मनुष्यों में होता है। वह अपने इर्द-गिर्द की भौतिक चीजों को देखता और

स्वीकार करता है लेकिन उनके परे नहीं जाता। वह उन्हें उसी तरह स्वीकार करता है जैसी वे हैं। हम यह तो नहीं कह सकते कि वह उनके बारे में सोचता है पर वही इन चीजों को किसी तरह से व्यवस्थित करता है। जब उच्चतर क्षमताओं के साथ न हो तो वह तर्क नहीं करता। तुम कह सकते हो कि वह मानसिक सत्ता का दूरतम बिंदु है—जैसे कलम की नोक होती है—जो मानसिक सत्ता के काम के लिये जरूरी है। जब मैं कलम उठाकर बिना कुछ सोचे समझे कोई शब्द या नाम कागज पर लिखना शुरू करता हूं तो भौतिक मन ही यह करवा रहा होता है।

फिर है प्राणिक-भौतिक या भौतिक प्राण। यह भौतिक सत्ता में विचरण करता हुआ प्राण है। हमारे लिये यह बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही विभिन्न अंगों से काम करवाता है और भौतिक सत्ता की क्रियाओं को नियंत्रित करता है। यही शरीर को स्वास्थ्य और बल देता है। इसी कारण उपनिषद् शरीर में विचरण करते हुए प्राण की बात करते हैं।

ये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये मानों उच्चतर क्षमताओं की स्नायुओं के छोर हैं। अगर ये उच्चतर क्षमताओं और आंतरिक सत्ता को ठीक तरह प्रत्युत्तर न दें तो तुम कुछ भी भली-भांति नहीं कर सकते।

उदाहरण के लिये अगर तुम संगीतज्ञ हो तो चाहे तुम्हारे अंदर अच्छे-से-अच्छा संगीत क्यों न भरा हो फिर भी तुम कुछ नहीं कर सकते अगर तुम्हारी उंगलियां ठीक तरह काम न करें। वे मानों आंतरिक सत्ता के दूसरे छोर हैं जिनके द्वारा आंतरिक सत्ता अपने-आपको भौतिक स्तर पर प्रकट करती है। यह ठीक एक कलम की तरह है जिसके द्वारा विचार अभिव्यक्ति पाता है।

यही कारण है कि मस्तिष्क शरीर का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। इसलिये नहीं कि वह विचार की रचना करता है बल्कि केवल इसलिये कि वह ऐसी संयोजक कड़ियां बनाता है जिनके द्वारा विचार यहां पर अभिव्यक्ति पाता है। यह वह उपकरण है जो उच्चतर क्रिया को ग्रहण करता है।

शिष्य—चित्रकला में भी वही कठिनाई है जो संगीत में है।

श्रीअरविंद—हां, कविता में भी। ऐसे लोग भी हैं जो अपने मन में तो अच्छी कविता पाते हैं पर जिस क्षण वे कलम उठाते हैं, सब कुछ गायब हो जाता है।

शिष्य—जी हां, 'क' के साथ यही मुश्किल है। उसे बहुत कुछ लिखना है पर जैसे ही वह कलम उठाता है तो बस कलम और स्याही बच रहते हैं। *(हंसी)*

श्रीअरविंद—और फिर आता है मुख्य भौतिक, जड़ भाग। यह है शरीर-चेतना, तुम चाहो तो 'मांस चेतना' कह सकते हो। यह चेतना शरीर के कोषाणुओं तक में होती है।

भौतिक में काम करते हुए अतिमानस के बारे में कुछ कहना कठिन है। तुम कह सकते हो कि यह भौतिक कोषाणुओं में एक ऐसी चीज है जो उनसे ठीक-ठीक वही चीज करवाती है जो शरीर के लिये आवश्यक है। उदाहरण के लिये, चूंकि वह है इसलिये शरीर जानता है कि उसे क्या खाना चाहिये। अगर उसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाये तो वह तुम्हें बतला सकता है कि उसे क्या चाहिये और क्या नहीं। मान लो कि तुम इस चीज को लो और बिना किसी मानसिक क्रिया के जान लो कि उसका भार कितना है, यह सीधी भौतिक चीज है।

लेकिन अधिकतर सभ्य लोग इस क्षमता को खो चुके हैं। लोगों ने अपने अंदर उठती हुई प्राणिक और मानसिक क्षमताओं की ओर बहुत ज्यादा ध्यान दिया। सामान्यतः खाने के मामले में प्राण अपनी कामनाओं को लेकर बहुत ज्यादा बाधा डालता है। वह कहता है, 'मुझे यह चाहिये', 'मैं वह पसंद करता हूं', 'मैं यह पसंद करता हूं' और मन भी अपने विचार लेकर आ जाता है, 'मेरे लिये यह ज्यादा अच्छा है', 'इसके अंदर यह चीज है इसलिये यह खाना ज्यादा अच्छा है।'

लेकिन अगर भौतिक चेतना को स्वतंत्र छोड़ दिया जाये तो वह जानती है कि उसे क्या चाहिये। शरीर में कोई कामनाएं नहीं होतीं, उसमें आवश्यकताएं होती हैं और वह जानता है कि उसके लिये क्या आवश्यक है।

शिष्य—क्या मनुष्य इस खोयी हुई क्षमता को वापिस पा सकते हैं ?

श्रीअरविंद—इसे पूरी तरह वापिस पा सकना कठिन है लेकिन हम उसे बड़ी हदतक पा सकते हैं। इस तरह हम आदिम मानव की बहुत-सी क्षमताएं खो चुके हैं।

शिष्य—चिकित्सा-विज्ञान में ऐसी चीजें हैं जो इस दृष्टि का समर्थन करती हैं। अभी आपने बतलाया कि कोषाणुओं में चेतना है। यह देखा गया है कि जब आमाशय में पदार्थ अमुक स्थिति में हो, कोषाणु खाये हुए भोजन को आत्मसात् करते हैं। तब पोषक तत्त्वों को शरीर बड़ी हद तक अपना सकता है। जब विष लिया जाये तो चाहे उसे आत्मसात् करने की अवस्थाएं मौजूद हों तो भी शरीर के कोषाणु उसे अस्वीकार कर देते हैं, वे विष को नहीं अपनाते, इसे चयनात्मक आत्मसात्करण कहते हैं। मानों शरीर जानता है कि यह विष है और उसे अस्वीकार करता है।

श्रीअरविंद—हां।

शिष्य—जैसे जानवर जानते हैं कि उन्हें क्या नहीं लेना चाहिये।

श्रीअरविंद—हां, यही भौतिक चेतना है। कभी-कभी वे गंध से जान लेते हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य के अंदर मन प्राण की कीमत चुका कर आगे बढ़ा है उसी प्रकार उसे शरीर की कई क्षमताओं को भी छोड़ना पड़ा है।

हां, यह तर्क किया जा सकता है कि अगर मनुष्य अपनी मानसिक सत्ता पर इतना जोर न डा़लता तो वह इन चीजों के बारे में सत्य जानने की कोशिश न करता। तब मन आलसी बना रहता। लेकिन जरूरी नहीं है कि मन आलसी रहता। मन वह चेतना है जो अपने ही ऊपर उलटती है और ऊपर से प्राण और भौतिक पर नीचे नजर डालती है। इन क्षमताओं को खोने की जगह मन प्राण और भौतिक के जुटाये हुए साक्ष्य को लेकर आगे जा सकता था, उन्हें समझने की कोशिश कर सकता था।

शिष्य—सौंदर्य-बोधात्मक रचनाएं किस स्तर की होती हैं ?

श्रीअरविंद—यह अलग-अलग लोगों पर निर्भर है। सामान्यतः यह प्राणमय लोक की चीज है। लेकिन इसमें भेद भी होते हैं, उदाहरण के

लिये, शैली का सौंदर्य, भाषा का सौंदर्य, लय-छंद आदि का सौंदर्य। ये सब प्राणिक स्तर की चीजें हैं।

परंतु सौंदर्यात्मक रचनाएं हर स्तर पर हो सकती हैं। मूल रूप से ये सब आनंदमय लोक से आती हैं।

शिष्य—आज 'क' का जो पत्र आया था वह किस स्तर का है ? प्राणिक सौंदर्य का ?

श्रीअरविंद—यह प्राणिक कल्पना है। यह कोई ऐसी चीज है जो तथ्यों की परवाह किये बिना अपनी ही राह लेती है। अगर आदमी शक्तिशाली है तो वह अपनी कल्पना को चरितार्थ कर सकता है।

शिष्य—क्या ऐसे आदमी को ही हम स्वप्न-द्रष्टा कहते हैं ?

श्रीअरविंद—स्वप्न ? स्वप्न सभी लोकों के हो सकते हैं, किसी लोक विशेष के नहीं।

शिष्य—मेरा मतलब ऐसे लोगों से है जो अपने स्वप्नों को चरितार्थ नहीं कर सकते और चीजों की कल्पना करते रहते हैं।

श्रीअरविंद—हां, ऐसे आदर्शवादी जिनमें ऐसी प्राणमय शक्ति नहीं होती जो उनके आदर्शों को जीवन में उतारकर उन्हें प्रभावशाली बना सके।

शिष्य—स्मृति क्या है ? क्या यह कोई मानसिक क्षमता है ?

श्रीअरविंद—स्मृति सब जगह होती है। वह सब जिसके बारे में हम सचेतन हैं या नहीं हैं, प्राण के अंदर अभिलिखित होता है, यही चेतना का मौलिक पदार्थ है। लेकिन तुम्हें याद वही रहता है जो तुमने ध्यान से सुना और मन में बैठा लिया है। परंतु साधारणतः ये संस्कार प्राण में आते और साथ-ही-साथ अवचेतना में या अंतर्लीन चेतना में डूब जाते हैं। तुम उसे जो चाहो कह लो।

एक प्रामाणिक घटना है हिब्रू भाषा के एक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् की नौकरानी की। वह काम करते-करते अपने मालिक को हिब्रू में बाइबल का पाठ करते हुए सुनती थी, उसके लिये वह निरर्थक बकवास थी। जब वह असामान्य स्थिति में थी तो मालिक के किये गये पाठ को उसी स्वर और लहजे में, बिना एक भी भूल किये दोहरा गयी। उसे यह भाषा बिल्कुल न

आती थी, उसका मन इसमें से कुछ भी न समझ पाता था लेकिन वह अवचेतन सत्ता में अभिलिखित होता गया। हमारे पैरों के तलवों की भी अपनी अलग स्मृति होती है।

हमने इन क्षमताओं का विभाजन और विश्लेषण किया है परंतु सभी विश्लेषणों की तरह यह समझने की सुविधा के लिये है। वस्तुतः ये इतने कटे-छंटे नहीं होते। वे अलग-अलग काम नहीं करते। उनमें आपस में बहुत क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। सत्ता अपनी क्रिया में, जैसा हम समझते हैं उससे कहीं अधिक जटिल है।

उदाहरण के लिये हमने सत्ता को मन, प्राण और शरीर तीन भागों में बांटा है लेकिन जब हम मन की बात करते हैं तो मानों अपने ही लोक में कार्य करते हुए मन को समझते हैं। लेकिन सभी भाग एक-दूसरे से जुड़े हैं और मन ऊपर से लेकर एकदम नीचे तक चेतना के सभी स्तरों पर काम करता है। सभी के बारे में यही बात है। केवल समझने की सुविधा के लिये यह वर्गीकरण है।

शिष्य—क्या प्रकृति की ये गतियां वैश्व गतिविधियों के साथ मेल नहीं रखतीं?

श्रीअरविंद—हां, अन्यथा वे मनुष्य में न पायी जातीं।

शिष्य—दर्द क्या है?

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब दुःख से है? यह स्वभावतः प्राणिक होता है।

१४-८-१९२६

शिष्य—क्या सौंदर्यबोधात्मक सत्ता और चैत्य में कोई संबंध है?

श्रीअरविंद—सौंदर्यात्मक सत्ता में सौंदर्य-बोध होता है और चैत्य सत्ता में भी सौंदर्य-बोध होता है। इसके सिवा इन दोनों में कोई खास संबंध जरूरी नहीं है।

सौंदर्यात्मक सत्ता प्राणमय लोक की चीज है। अगर मनुष्य केवल रूप और रेखा का स्वामी नहीं है तो सौंदर्यात्मक सत्ता रूप के सौंदर्य से कुछ

और चीज अभिव्यक्त कर सकती है। सौंदर्यात्मक सत्ता रूप और रेखा के सौंदर्य को देखती है और साथ ही किसी ऐसी चीज के सौंदर्य को देखती है जो अभिव्यक्त की गयी है जब कि चैत्य सत्ता अंतरात्मा की मनोहरता को देखती है।

चैत्य सत्ता में उस तरह की सुंदरता नहीं होती जैसी कि सामान्यतः समझी जाती है। वह एक 'मोहकता' है—एक आंतरिक सुंदरता, अंतरात्मा की सुंदरता। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि उसमें रूप की सुंदरता भी हो—यद्यपि यह भी हो सकती है। हो सकता है कि जिस व्यक्ति में सुंदर अंतरात्मा है वह सुंदर न हो।

शिष्य—क्या अंतरात्मा की उदात्तता को भौतिक सुंदरता में प्रकट न होना चाहिये?

श्रीअरविंद—होना तो यही चाहिये लेकिन जीवन में हमेशा ऐसा नहीं होता। हो सकता है कि किसी की अंतरात्मा सुकरात के जैसी उदात्त हो और देखने में वह उसीके जैसा कुरूप हो!

शिष्य—सभी बच्चे हमेशा सुंदर होते हैं।

श्रीअरविंद—उनमें प्राणिक चमक होती है।

शिष्य—क्या चैत्य सुंदरता में रंग, रेखा या ऐसी कोई विशेषता होती है?

श्रीअरविंद—चैत्य सुंदरता अपने-आपको, सौंदर्यात्मक बोध की सुंदरता की तरह रंग और रेखा में प्रकट करे यह जरूरी नहीं है। यह उन सबसे एकदम भिन्न है, यद्यपि यह अपने-आपको उनके द्वारा भी प्रकट कर सकती है। यह एक तरह की अनिर्वचनीय मोहकता और सुकुमारता है।

शिष्य—इसका मतलब यह हुआ कि चैत्य सौंदर्य में कोमलता और सुकुमारता होती है।

श्रीअरविंद—अगर तुम शब्दों को इस तरह पकड़ो तो तुम मेरे अर्थ का अनर्थ करते हो। प्राणिक सुंदरता में भी कोमलता होती है लेकिन वह यही नहीं है। कभी-कभी एक दृष्टि या मुस्कान प्राणिक नहीं चैत्य सुंदरता व्यक्त करती है।

कुछ फूलों में चैत्य सुंदरता होती है। उदाहरण के लिये चमेली बहुत चैत्य फूल है।

शिष्य—फूलों में सुंदरता तो होती है पर मेरे लिये यह नयी बात है कि फूलों में चैत्य सुंदरता होती है।

श्रीअरविंद—हां, यह फूल की अंतरात्मा की सुंदरता है।

शिष्य—फूल की अंतरात्मा!

श्रीअरविंद—मैं जानता था कि इससे तुम चौंक पड़ोगे। तुम्हारा ख्याल है कि फूलों में आत्मा नहीं होती? मनुष्य का अज्ञान ही उसे यह विचार देता है कि वह सृष्टि में सबसे ऊंचा है। बहुत-से कुत्तों में बहुत-से मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुंदर चैत्य होता है!

शिष्य—तब फिर मनुष्य को सृष्टि में सबसे ऊंचा क्यों माना जाता है?

श्रीअरविंद—मनुष्य का अहंकारात्मक अज्ञान ही उसे यह सोचने की प्रेरणा देता है। वह ऊंचा है क्योंकि उसमें दिव्य जीवन विकसित करने की संभावना है। तुम यह भी कह सकते हो कि वह ऊंचा है क्योंकि उसमें मन विकसित हुआ है और मन उसे सचेतन विकास का अवसर देता है। लेकिन इसका यह जरूरी निष्कर्ष नहीं है कि चूंकि मनुष्य मानसिक प्राणी है अतः उसने अपने मन का उपयोग विकास के लिये किया है। चूंकि मनुष्य में मन है ठीक इसीलिये उसके अंदर दानवी होने की भी अनंत क्षमता है। वह अपने दानव की सहायता के लिये मन को प्रस्तुत कर देता है। स्वयं दानव इतना बुरा नहीं हो सकता जितना वह मनुष्य जो अपने मन को इस प्राणिक सत्ता की सेवा में लगा देता है।

शिष्य—अनंत संभावनाएं! दैवी और दानवी दोनों!!

श्रीअरविंद—मनुष्य के अंदर अहंकारमय अज्ञान उसे यह भाव देता है कि वह सृष्टि में सबसे ऊंचा है।

शिष्य—लेकिन मनुष्य के शरीर और पशु के शरीर में कितना अधिक फर्क है।

श्रीअरविंद—बस इतना ही। और वह भी इतना अधिक नहीं है जितना तुम मान लेते हो।

आखिर पशु के शरीर और मनुष्य के शरीर में क्या फर्क है ? अगर सावधानी से देखो तो तुमने पूंछ को छोड़ दिया है और चार पैर पर चलने की जगह दो पर चलते हो और दो को हाथ बना दिया है। मस्तिष्क में कुछ थोड़े-से परंतु बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और इधर-उधर ब्यौरों में कुछ हेर-फेर। तुमने अपने लोम और सींग को उतार फेंका है।

शिष्य—सभी मनुष्यों ने नहीं। 'क' में प्रचुर लोम हैं। *(हंसी)*

श्रीअरविंद—हां, देखो ये भौतिक में इतने बड़े परिवर्तन नहीं हैं जो मनुष्य और पशु के बीच खाई खड़ी कर दें।

बेवकूफी, यह सारी आदमी की बेवकूफी है ! मनुष्य इसलिये बड़ा है क्योंकि वह किसी उच्चतर की ओर खुल सकता है और सचेतन रूप से मन के परे जा सकता है और पृथ्वी पर दिव्य जीवन जी सकता है।

शिष्य—अभी आपने कहा कि चमेली चैत्य फूल है—यह आकार-प्रकार में, रंग में या सुंगध में चैत्य है ?

श्रीअरविंद—नहीं, मेरा यह मतलब बिल्कुल नहीं था कि फूलों की चैत्य सुंदरता इन बाहरी चीजों में है, उनकी इस सुंदरता के विचार को मन को समझाना बहुत कठिन है।

शिष्य—और गुलाब कैसा है।

श्रीअरविंद—गुलाब प्रबल रूप से प्राणिक है। वहां उसके रूप में आंतरिक आत्मा खो गयी है।

शिष्य—और कमल ?

श्रीअरविंद—कमल निश्चय ही प्रतीकात्मक फूल है। वह आंतरिक सत्ता के उच्चतर सत्य की ओर खुलने का प्रतीक है। तुम देख सकते हो कि कमल एक गुह्य फूल है।

शिष्य—क्या आप भारतीय चित्रकला में कुछ ऐसे चित्रों को याद कर सकते हैं जिनमें चैत्य सुंदरता हो ?

श्रीअरविंद—अभी तो मुझे याद नहीं है पर मैंने ऐसे कुछ चित्र देखे जरूर हैं, बहुत नहीं।

तुमने नंदलाल बसु का चित्र 'पथहारा' (गाय का) देखा है ?

शिष्य—जी हां।

श्रीअरविंद—उसमें कुछ चैत्य स्पर्श है, एक और चित्र अवनींद्रनाथ का था। लेकिन साधारणतः अवनींद्रनाथ की प्रेरणा प्राण से आती है।

शिष्य—क्या उसका मानसिक सुंदरता से संबंध नहीं होता ?

श्रीअरविंद—नहीं। इसीलिये जबतक तुम अपनी अंतरात्मा से अनुभव न कर लो यह कहना मुश्किल है कि यह चैत्य सौंदर्य है। उदाहरण के लिये तुम किसी पुस्तक में एक प्रसंग पढ़ते हो और कह उठते हो, "आह, क्या सुंदर है !" यह मानसिक सुंदरता होगी चैत्य नहीं। किसी मनुष्य के चेहरे पर बुद्धिमत्ता की चमक दीख सकती है लेकिन वह बुद्धिमत्ता के कारण होगी, चैत्य के कारण नहीं।

शिष्य—क्या जिस व्यक्ति में चैत्य सत्ता विकसित न हुई हो वह चैत्य सुंदरता को सराह सकता है ?

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब क्या है ? हर एक में चैत्य सत्ता होती है।

शिष्य—लेकिन अगर चैत्य सत्ता मजबूत न हो ?

श्रीअरविंद—हो सकता है कि चैत्य इतना मजबूत न हो कि वह मानसिक और प्राणिक सत्ता पर अपनी छाप डाल सके फिर भी उसमें चैत्य भाव हो। ऐसे लोग हैं जिनमें ये चैत्य भाव उनके जीवन पर प्रभाव डालते हैं।

शिष्य—सौंदर्य की चीजें मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को कैसे प्रभावित करती हैं ?

श्रीअरविंद—यह इसपर निर्भर है कि आध्यात्मिक विकास से तुम्हारा क्या मतलब है। वह मनुष्य के विकास में उसी तरह सहायक है जैसे हर चीज सहायक होती है। सौंदर्य-बोध को बढ़ाने से स्वभाव परिष्कृत होता है। परिष्कृत स्वभाव की शुद्धि अपरिष्कृत की शुद्धि से बहुत ज्यादा आसान होती है। महात्मा गांधी इस चीज को नहीं समझ पाये कि सौंदर्य-बोध का विकास पूर्णता का उतना ही अंग है जितना कोई और। केवल इतना ही नहीं, अगर आदमी में सौंदर्यबोध विकसित नहीं हुआ है तो वह परम पुरुष की ओर जाने का वह मार्ग न पा सकेगा जो सौंदर्य से होकर जाता है।

शिष्य—आपने कुछ समय पहले कहा था कि अतिमानव हमेशा अठारह वर्ष का युवक लगेगा।

श्रीअरविंद—क्या मैंने ऐसा कहा था ? मैं तो यह कहना चाहूंगा कि उसकी कोई उम्र न मालूम होगी—यानी उसके शरीर पर उम्र की कोई छाप न होगी।

२८-९-१९२६

शिष्य—सत्ता के प्रत्येक स्तर, भौतिक, प्राणिक और मानसिक पर से जगत् को देखते हुए पुरुष के विशेष लक्षण क्या होते हैं ?

श्रीअरविंद—पुरुष जगत् को उसी तरह से देखता है जैसे प्रकृति उसे उपस्थित करती है। मानसिक स्तर पर प्रकृति विचारों, भावों, संक्षेप में कहें तो सभी मानसिक गतिविधियों के रूप में प्रस्तुत करती है। प्राणिक स्तर पर प्रकृति स्वयं को कामनाओं के द्वारा, संक्षेप में कहें तो प्राण शक्ति की क्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। भौतिक स्तर पर वह अपने-आपको भौतिक जीवन के अपरिवर्तनशील विधान के रूप में प्रस्तुत करती है।

शिष्य—जब पुरुष अपने-आपको प्रकृति से अलग करता है तो उसके लिये किसी उच्चतर चीज के लिये अभीप्सा करना कैसे संभव होता है ?

श्रीअरविंद—पुरुष नहीं प्रकृति द्वारा अभीप्सा करवानी चाहिये और उसे उपयुक्त बनाना चाहिये। पुरुष तो नीरव, निष्क्रिय होता है और प्रकृति को देखता रहता है।

शिष्य—अतिमानस से पृथ्वी को देखने का पुरुष का विशिष्ट तरीका क्या है ?

श्रीअरविंद—अतिमानस पुरुष उसी तरह देखता है जैसे सत्य देखता है।

शिष्य—और सत्य कैसे देखता है इस जगत् को ?

श्रीअरविंद—(हाथ ऊपर उठाकर) तुम वहांतक उठ जाओ तो देख लोगे।

शिष्य—तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—विज्ञान यज्ञ को प्रसारित करता

है। जो वस्तु प्रिय है वह उसका शिर है, आनंद उसका दाहिना पार्श्व है और अति आनंद बांया पार्श्व। आनंद शरीर है और ब्रह्म निचला भाग, आधार। (*तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदः उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा*)।

श्रीअरविंद—यहां पुच्छम् या पूंछ का अर्थ है छोर या आधार। उसका अर्थ है कि आनंद का आधार अनंत है, ब्रह्म है।

शिष्य—और आगे कहा है "उससे भरा हुआ है, श्रद्धा उसका सिर है, गति का सत्य दांया पार्श्व, सत्ता का सत्य बांया पार्श्व। ऐक्य, शरीर, महर्लोक, निचला भाग है—आधार।"

(*तैनेवः पूर्णः . . . तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।*)

श्रीअरविंद—इसका मतलब यह हुआ कि अगर तुम अतिमानस तक उठना चाहो तो तुम्हें महस् को प्राप्त करना होगा—बृहत्, अनंत और वैश्व चेतना जो उसका आधार है। ऋतम् का अर्थ है गति का सत्य, सत्यम् है सत्ता का सत्य, श्रद्धा है, जब सत्य उपस्थित हो तो उसकी स्वीकृति।

शिष्य—जब सत्य अतिमानस स्तर पर मौजूद है तो श्रद्धा की क्या जरूरत ?

श्रीअरविंद—श्रद्धा का यहां मतलब यह है कि जब तुम सत्य को देखो तो उसे स्वीकार करने के लिये तैयार रहो। योगात्मा का मतलब है कि निम्नतर सत्ता को उच्चतर सत्ता के साथ ऐक्य पाने की जरूरत है ताकि मन से उच्चतर स्तर तक पहुंच सके।

शिष्य—उसमें प्राणायाम के बारे में भी कहा गया है और यह भी कि इसीके द्वारा वह संपन्न होता है।

श्रीअरविंद—इसमें कहा गया है कि मनोमय प्राण से अधिक ऊंचा है और इसके द्वारा संपन्न होता है।

शिष्य—उसमें यह भी कहा गया है कि यज्ञ शिर है, ऋक् दक्षिण पार्श्व है, साम वाम पार्श्व है, आज्ञा अंतरात्मा है और अथर्वांगिरस पुच्छ या आधार है।

श्रीअरविंद—ऋक् का मतलब है मन में अंतर्भासात्मक गति, साम है 'गति और सामंजस्य की लय', अथर्व का अर्थ है 'भौतिक स्तर का प्रभावोत्पादक कर्म' कम-से-कम वेद में अंगिरस का अर्थ है अग्नि की शक्ति जो गौओं को मुक्त करती है पणियों की गुफा से यानी प्रकाश को अंधकार से और यह **शब्द** तथा इंद्र और अन्य देवों की सहायता से होता है।

शिष्य—क्या ईसाइयों की त्रयी ब्रह्मा, विष्णु, महेश से मेल खाती है ?

श्रीअरविंद—नहीं, भारतीय त्रयी वे वैश्व शक्तियां हैं जो विश्व की अमुक गतिविधियों का नियंत्रण करती हैं जैसे ब्रह्मा सृजन का, जब कि ईसाई 'पुत्र' शायद 'मनुष्य के अंदर भगवान्' है; 'पवित्रात्मा' शायद 'दिव्य चेतना' है।

३-१०-१९२६

श्रीअरविंद—सच्ची (ह्यूमिलिटी) दीनता या विनय वह है जब तुम अपने दोषों को स्वीकारने के लिये तैयार हो लेकिन इसके लिये अपने-आपको अधम मानने की जरूरत नहीं। तुम अनुभव करते हो कि तुम्हारे अंदर वे सब दोष हैं जो वैश्व प्रकृति में हैं और व्यक्तिगत रूप से तुम किसीसे भी श्रेष्ठतर नहीं हो। तुम्हें यह भाव तक नहीं बनाये रखना चाहिये कि ये दोष चले जायें और यह न रटते रहना चाहिये, "मैं कुछ नहीं हूं। मैं पापों से भरा हूं"—साथ ही उसके बारे में तुम्हारा सिर फूला न होना चाहिये, सचमुच यह घमंड का अभाव है। ह्यूमिलिटी अच्छा शब्द नहीं है।

शिष्य—क्या आध्यात्मिक पूर्णता में विनोद-भाव का कोई स्थान है ?

श्रीअरविंद—अगर सिद्ध कभी नहीं हंसता तो यह एक अपूर्णता है।

...an Institute of Ad...
ACC NO. 9969
DATE 4-12-2004
...IIM...